॥ॐ॥
॥श्री परमात्मने नमः ॥
॥श्री गणेशाय नमः॥

॥श्री सूर्य गीता॥

श्री सूर्य गीता

श्री प्रभु के चरणकमलों में समर्पित:

श्री मनीष त्यागी
संस्थापक एवं अध्यक्ष
श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

॥ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

विषय सूची

॥श्री सूर्य गीता॥ 4

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः॥ 6

अधिदैवरहस्यनिरूपणं : अधिदैवरहस्य निरूपण..... 6

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः॥ 29

पंचोपास्ति निरूपणं: पञ्चदेव उपासना निरूपण 29

॥तृतीय अध्याय॥ 46

कर्मरहस्य निरूपणं : कर्मरहस्य निरूपण..... 46

॥अथ चतुर्थोऽध्यायः॥ 64

कर्मविभाग निरूपणं: कर्मविभाग निरूपण 64

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥ 85

सृष्टिक्रम आत्मस्वरूप वर्णनं : सृष्टिक्रम और आत्मस्वरूप वर्णन. 85

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥..... 102

ब्रह्माणोऽधिभूत दर्शनं – योगविज्ञान वर्णनं : ब्रह्म के आदिभूत दर्शन और योग विज्ञानं वर्णन..... 102

॥ अथ सप्तमोऽध्यायः ॥ 123

जीवन्मुक्त लक्षण निरुपणं : जीवन्मुक्त लक्षण निरुपण 123

॥श्री सूर्यदेव चालीसा॥..... 145

॥श्री सूर्य भगवान् की आरती॥..... 148

॥श्री सूर्य गीता॥

सर्वव्यापक, सर्व जीव हितकारी और पृथ्वी में समस्त धर्मों के आदिरूप सनातन धर्म की उपासना पद्धति में पञ्चोपासना का विशाल महत्व है। भगवान् विष्णु, शिव, गणेश, शक्ति और सूर्य सगुण उपासना के यही आधार हैं।

सृष्टि के स्वाभाविक पांच तत्वों के अनुसार मनुष्यों को पञ्चविभागों में विभक्त जानकर ही उपासकों के लिए हितकारी पञ्च उपासना प्रणाली प्रचलित की है। विष्णु उपासकों के लिए वैष्णव सम्प्रदाय प्रणाली, सूर्य उपासकों के लिए सौर्य सम्प्रदाय प्रणाली, शक्ति उपासकों के लिए शाक्त सम्प्रदाय प्रणाली, गणपति उपासकों के लिए गाणपत्य सम्प्रदाय प्रणाली और शिव उपासकों के लिए शैव सम्प्रदाय प्रणाली की व्याख्या विस्तारित रूप से अनेक धर्म शास्त्रों में व्याख्या की है।

इन पञ्च सम्प्रदायों की उपासना पद्धति के रहस्य श्रीविष्णु गीता, श्री शम्भू गीता, श्री धीशगीता, श्री शक्ति गीता और सूर्य गीता में पूर्ण रूप से वर्णित हैं। यह सभी गीताएं उपनिषद स्वरूपा हैं। इन पञ्च देवताओं में सूर्य प्रत्यक्ष देवता है। अन्य सभी उपासना पद्धतियों के अनुरूप सूर्योपासना शास्त्रों में भगवान् सूर्य ही सर्वोत्कृष्ट देव के रूप में वर्णित हैं। सूर्य ही हरिहरादि रूपों में अभिव्यक्त होकर अखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हैं। ऐसा मुख्य रूप से इसलिए है क्योंकि जब तक आराध्य देव में एकांत निष्ठा नहीं होगी तब तक आराध्य में अटूट श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो सकती।

श्रीमद भागवत गीता के तरह सूर्य गीता भी त्रिताप का उन्मूलन करने वाला महत्वपूर्ण उपनिषद है जो की श्री सूत जी और व्यास जी संवाद रूप में वर्णित है। प्रस्तुत गीता में सप्तऋषि लोक कल्याण की कामना से सूर्य भगवान से कर्म, उपस्ति और ज्ञान का रहस्य पूछते हैं और मुक्ति, आदिदैव रहस्य तथा कर्म, उपासना तथा ज्ञान के सामजस्य के के स्वरुप से सम्बंधित प्रश्न भी पूछते हैं। और सूर्य भगवान् सप्त ऋषियों के प्रश्नों का उत्तर विस्तृत रूप में करते हैं।

यह गीता साक्षात् भगवन सूर्य के मुखारविंद से निकला हुआ अमृत है जिसको ग्रहण कर भक्तजन परिष्कृत होंगे और अपने इहलोक के साथ परलोक को भी पुष्ट करेंगे। भगवान् के ही मंगलमय चरणों में प्रणाम कर इस दिव्य ग्रन्थ का सरलार्थ प्रारंभ करते हैं।

ॐ श्री सवित्रे नम:

ॐ सूर्याय नम:

ॐ आदित्याय विदमहे प्रभाकराय धीमहितन्न: सूर्य प्रचोदयात् ।

ॐ सप्ततुरंगाय विद्महे सहस्त्रकिरणाय धीमहि तन्नो रवि: प्रचोदयात्

॥ॐ सवित्रे नमः ॥

॥श्री सूर्य गीता ॥

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः॥

अधिदैवरहस्यनिरूपणं : अधिदैवरहस्य निरूपण

सूत उवाच॥१॥

सूतजी बोले ॥१॥

यज्ज्ञानाऽमृतपानेन योगिनस्तत्वदर्शिनः ।
विन्दन्ति ब्रह्मसारूप्यं भगवन् ! ब्रहि तन्मम ॥ २ ॥

हे भगवन् ! जिस ज्ञानरूपी अमृत को प्राप्त कर तत्वदर्शी योगिगजन ब्रह्मसारूप्य को प्राप्त करते हैं उसको कृपा कर बताइए॥२॥

व्यास उवाच ॥३॥

श्रीमहर्षि वेदव्यासने कहा ॥३॥

तापत्रयोन्मूलकरी योगमार्गप्रदर्शिकाम् ।
अध्यात्मभावसम्पूर्णा सूर्यगीतामनुत्तमाम् ॥४॥

इदानीं वच्मि ते सूत ! या देवैरपि न भूता।
सप्तर्षिभिः पुरा प्राप्ता सूर्यदेवप्रसादतः ॥५॥

हे सूत ! तीनों तापों का उन्मूलन करने वाली, योगमार्ग को प्रकाशित करने वाली और अध्यात्म भावों से पूर्ण सूर्यगीता, जिससे उत्तम कुछ भी नहीं है, जिसका ज्ञान देवताओं को भी दुर्लभ है और जो पुरातन काल में सूर्यदेव के प्रसाद से सप्तर्षियों द्वारा ग्रहण की गई थी, इस समय मैं तुमको उसी का उपदेश देता हूँ ॥४-५॥

जगतां हितमिच्छन्तः पुरा सप्तर्पयो ध्रुवम् ।
सौरे लोके विभुं सूर्य द्रष्टुमासन्नुपस्थिताः ॥६॥

जगत के हित की इच्छा करनेवाले सप्तर्षि पूर्व काल में भगवान् सूर्यदेव के दर्शन करने के लिये सूर्यलोक में जाकर उपस्थित हुए। ॥६॥

तेजोमयोऽपि लोकः सः शैत्यसौन्दर्यापरितः।
ऋतवः षडविराजन्ते सदा तत्र समं मुदा ॥७॥

दिव्ये तस्मिन् चिराराध्ये सूर्यादधिकमादरं ।
लब्ध्वा सप्तर्पयः सद्यः प्रार्थयन्त कृताञ्जलि ॥८॥

यद्यपि वह तेजोमय लोक है, परन्तु शीत और सुन्दरता से पूर्ण है। वहां पर छहों ऋतु निरन्तर आनन्द के साथ वास करती हैं। उस चिराराध्य दिव्यलोक में सूर्यदेव द्वारा आदर प्राप्त कर सप्तर्षि उसी समय हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे। ॥६-८॥

ऋषय ऊचुः ॥९॥

सप्तर्षियों ने कहा ॥९॥

विश्वप्रकाशक ! श्रीमन् ! सर्वशक्तिनिकेतन ।
जगन्नियन्तः! सर्वेश ! विश्वप्राणाश्रय ! प्रभो ॥१०॥

कर्म्मोपास्तिज्ञानसाधुरहस्यं कृपया गुरो!।
त्रितापतमजीवाना मुद्धारायोपदिश्यताम् ॥११॥

हे विश्व को प्रकाश प्रदान करने वाले! हे कान्तिमान् ! हे सर्वशक्तियों के स्थान ! हे जगत के नियन्ता! हे सर्वेश्वर! हे संसार के प्राणाधार ! हे प्रभो! हे गुरो ! त्रिताप से तप्त जीवों के उद्धार के लिए कृपा करके कर्म, उपासना और ज्ञान के उत्तम रहस्य का उपदेश कीजिए ॥ १०-११॥

येनोपायोन जीवानां मुक्तिः संसारबन्धनात् ।
जायते दयया तन्नः श्रावयेविश्वतत्ववित ॥१२॥

हे विश्व के तत्त्वों को जाननेवाले ! जिस उपाय से जीवों को संसारिक बन्धनों से मुक्ति प्राप्त होती है, उसे दया करके हमें बताइए ॥१२॥

अधिदैवरहस्यस्य विना ज्ञानं न शक्यते ।
ज्ञातुं कर्म्मोपासनाधीसामञ्जस्यं सुदुर्ग्रहम ॥१३॥

क्योंकि अधिदैव रहस्य का ज्ञान हुए बिना कर्म उपासना और ज्ञान का कठिन सामञ्जस्य ज्ञात नहीं हो सकता ॥१३॥

अनन्त ! विश्वेश! गुरो ! जिज्ञासव हमे ततः ।
तत्सर्व श्रावयित्वा नोऽनुगृहाणानुकम्पया ॥१४॥

हे अनन्त ! हे विश्वनाथ ! हे गुरो ! हम लोग जिज्ञासु है, इस कारण वह सब कृपया सुनाकर आप हमें अनुगृहीत करें ॥ १४॥

श्रीसूर्य उवाच॥१५॥

श्रीसूर्यदेव बोले ॥ १५॥

सर्वेषां ज्योतिषां ज्योतिः प्रकाशानां प्रकाशकः !
अहमेवाऽस्मि सर्वासां शक्तीनामाश्रयस्तथा ॥१६॥

समस्त तेजों का तेज, प्रकाशों का प्रकाशक और समस्त शक्तियों का आश्रय मैं ही हूँ॥ १६ ॥

अन्ये ये च ग्रहा विप्राः ! तथैवोपग्रहहाश्च ये।
नित्यं प्रदक्षिणीकृत्य मामेवैते समाश्रिताः ॥१७॥

हे विभो! अन्य जितने ग्रह और उपग्रह हैं, वह सभी निरन्तर मेरी ही प्रदक्षिणा करते हुए मेरे ही आश्रय से रहते हैं। ॥१७॥

ब्रह्माण्डं देहपिण्डश्च सर्वं मे सत्तया स्थितम् ।
अनन्तसूर्यलोकास्ते उपग्रहगणैगृहै॥१८॥

अनन्तैः सह मे सक्ता आज्ञानां पालनेऽनघाः!।
तथा संख्याविहीनास्ते लोकाः सूर्यादिनामकाः ॥१३॥

अनन्तग्रहलोकास्त उपग्रहगणास्तथा।
आद्यन्तरहित वेमे विराड्वपुषि मे स्थिताः ॥२०॥

समस्त पिण्ड और ब्रह्माण्ड मेरी ही सत्ता से स्थित है। हे निष्पापों! अनन्त ग्रहगण और उपग्रहों के साथ अन्यन्त सूर्यलोक मेरी आज्ञा का पालन करने में तत्पर हैं। इसी प्रकार सूर्यादि असंख्य लोक, अनन्त ग्रहलोक और अनगिनत उपग्रहगण, आदि अन्तरहित मेरे विराटशरीर में स्थित है। ॥१८-२०॥

ब्रह्माण्डानि च पिण्डानि समष्टिव्यष्टिमेदतः।
परस्परविमिश्रानि सन्त्यनन्तानि संख्यया ॥२१॥

ब्रह्माण्ड और पिण्ड, समष्टि और व्यष्टि भेद से परस्पर मिले हुए हैं और उनकी संख्या अनन्त है ॥२१॥

प्रतिब्रह्माण्डमनिशं ब्रह्मविष्णुहरादयः ।
सृष्टिस्थितिलयान् स्वैरं कुर्वते स्वविभागतः॥२२॥

प्रत्येक ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि स्वतंत्रता पूर्वक अपने अपने विभागानुसार निरन्तर सृष्टि, स्थिति और लय का कार्य किया करते है। ॥२२॥

तथैवर्षिगणदैवै:पितृभिश्च विभागश: ।
अध्यात्ममधिदैवञ्चाविभूतं कर्म तन्यते ॥२३॥

इसी तरह ऋषिगण, देवगण, और पितृगण द्वारा अपने अपने विभागानुसार अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत कर्मों का सम्पादन होता है ॥२३॥

ब्रह्माण्डेषु च लोकास्ते सप्तोऽर्वमघ एव च।
प्राणिनामिह भोगार्थ भोगलोका मता इमे ॥२४॥

ब्रह्माण्ड में सात उद्धर्व और सात अधोलोक है। प्राणियों के भोग के लिए होने के कारण उन्हें भोगलोक कहते हैं ॥२४॥

स्वर्गो नरक इत्येवं पितृलोकादयस्तथा ।
कर्मपाशयता जीवा यत्रायान्ति च यान्ति च ॥२५॥

स्वर्ग, नरक और पितृलोक आदि में कर्मपाशबद्ध जीव आना जाना करते रहते हैं ॥२५॥

अथेयं भोगभूरुक्ता कर्मभू: श्रूयतां युधाः ।
एतेष्वेवाऽस्ति लोकेषु चतुर्दशन शोमनः ॥२६॥

योऽयं भूलोक एवासौ कर्मभूरवधार्यताम् ।
तत्राऽपि गीयते योऽयमार्यावर्तः स एव सा ॥२७॥

यह भोगभूमि कही गयी है, अब हे विज्ञों! कर्मभूमि का वर्णन श्रवण करें। उक्त चतुर्दश लोकों में अत्यन्त शोभायुक्त जो यह भूलोक है, इसी को कर्मभूमि समझें। भूलोक में भी जिसे आर्यावर्त कहते हैं, वही कर्म भूमि है ॥२६-२७॥

यस्योत्तरस्यां बहुभिस्तरूगुल्मलतादिभिः।
वृतो हिमगिरिभाति बहुधातुविण्डितः ॥२८॥

जिसके उत्तर में बहुत से वृक्ष गुल्म और लता आदि से युक्त एवं विविध धातुओं से मण्डित हिमालय पर्वत शोभायमान हो रहा है ॥२८॥

दक्षिणयां समुद्रेण सहितो विन्ध्यपर्वत: ।
पूर्वस्यां सागरोऽनेकन्दनद्यादिसंयुत: ॥२९॥

नदः सिन्धुः प्रतीच्यां च नदिभिः पञ्चाभि: सह ।
त इमेऽयाः प्रसिद्धायाः कर्मभूमेनिमाजकाः ॥३०॥

दक्षिणमें समुद्र के साथ विन्ध्य नामक पर्वत स्थित है। पूर्व में नद नदियों से युक्त महासागर तथा पश्चिम में पाँच नदियों से युक्त सिन्धु नामक नद विराजमान है। यही इस प्रसिद्ध कर्मभूमि के विभाजक हैं ।॥ २९-३०॥

देवा अन्यत्र वाञ्छन्ति जन्म कर्मावि स्वकम् ।
वैदिकी दृश्यते पूर्णाक्रियाप्यत्रेच नित्यशः ॥३१॥

इस कर्मभूमि में जन्म ग्रहण करने की देवतागण भी इच्छा करते हैं। यहाँ पर नित्य वैदिक क्रियायें पूर्ण रूप से दिखाई देतीं हैं ॥३१॥

पूर्णा च मानवी सृष्टिः कर्मभुव्येव जायते।
धर्मोऽपि पूर्णतोऽत्रैवाऽवतारोऽपि तथा मम ॥३२॥

लीलाविग्रहमाधाय दुष्टान् निघ्न सतोऽवति ।
रहस्यं सक्ष्मलोकानां गृहं शृणुत सत्तमा: ॥३३॥

कर्मभूमि में ही पूर्ण मानवी सृष्टि होती है। कर्मभूमि में ही पूर्णरूप से धर्म का अस्तित्व है और कर्मभूमि में ही भगवान लीला विग्रह अर्थात अवतार धारण करके दुष्टों का दमन और सज्जनों का संरक्षण किया करते हैं। अब हे श्रेष्ठ पुरुषों ! सूक्ष्म लोकों के गूढ़ रहस्य को सुनिए ॥३२-३३॥

येन यो विमला बुद्धिननिष्यत इहादरात् ।
द्विधा ममाऽस्ति वै शक्तिर्विमक्ता पृथिवीतले ॥३४॥

सात्त्विकी तामसी चेति ह्यधितिष्ठन्ति यां सदा।
देवाच दानवाश्चैर मदाज्ञावशवर्तिनः ॥३५॥

जिससे आपको बुद्धि निर्मल होगी। पृथ्वी तल पर मेरी शक्ति दो भागों में विभक्त है। एक सात्विकी और दूसरी तामसी। मेरी आज्ञा के वशवर्ती होकर देवता और दानव क्रमशः इन दोनों शक्तियों में अधिष्ठान करते हैं ॥३४-३५॥

देवानामूर्ध्वलोकेषु स्थिति: स्वाभाविकची मता।
असुराणामघोलोके वसतिविनिवेशिता ॥३६॥

देवताओं की स्थिति स्वाभाविक रूप से उद्धर्व लोकों में और दानवों की अधोलोक में है ॥३६॥

तथा देवासुरं युद्धं पथ्ये मध्येऽत्र जायते।
असुराः कर्म्मव्यत्यासात् देवाञ्जीत्वा स्वशक्तित: ॥३७॥

कियन्तमधिकारञ्च तेषां ते कुर्वते स्वयम् ।

देवा अपि प्रसादान्मे पुनार्जित्वाऽसुरान्स्तथा ॥३८॥

स्वाधिकारं समाश्रित्य पुनर्नन्दन्ति निर्भया ।
देवानाञ्चासुराणाञ्चाधिकारे साम्यतां गते ॥३९॥

ब्रह्माण्डेषु च धर्मस्य स्थितियथार्थ्यतो मता।
देवास्तथर्षयः सर्वे मेऽवतार इव क्षितौ ॥४०॥

धृत्वाऽवतारं में ज्ञानशक्त्योः साम्यं वितन्वते ।
मज्ज्ञानं ज्ञानिनामन्तर्नित्यं भासयतेऽखिलम् ॥४१॥

परन्तु कभी कभी देवासुर संग्राम हुआ करता है। असुरगण कर्म के अधिकार द्वारा अपनी शक्ति बढ़ाकर देवताओं को जीत लेते हैं और उनके अनेकों अधिकार स्वयं चलाने लगते हैं। देवतागण भी पुनः मेरे प्रसाद से असुरों को जीत कर अपना अधिकार प्राप्त करते हैं और निर्भय होकर निर्भर होकर आनन्द से रहने लगते हैं। देवता और असुरों के अधिकार की साम्यता होने पर ब्रह्माण्ड में धर्म की यथार्थ रूप में स्थिति होती है। देवता तथा ऋषिगण पृथ्वी पर ईश्वरावतार के समान अवतार धारण कर मेरे ज्ञान और शक्तियों की साम्यता का प्रचार करते हैं। मेरा ज्ञान ज्ञानियों के अन्त: करण में नित्य ही सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित कर देता है। ॥३७-४१॥

पञ्चकोषेषु शक्तिर्मे तथा तिष्ठति नित्यशः।
न पश्यन्ति तु तां शक्तिमज्ञानोपहता नराः ॥४२॥

पञ्चकोषों में मेरी शक्ति निरन्तर रहती है, परन्तु इस शक्ति को अज्ञानी पुरुष नहीं देख सकते ॥४२॥

यावतीं प्रौढतां याति साधकः साधनाध्वनि।
तावत्स पञ्चकोशानां साहाय्यामा प्रपद्यते ॥४३॥

साधनमार्ग में साधक जितना अग्रसर होगा, पञ्चकोषों की सहायता से उतना ही वह मेरे निकट पहुँचेगा॥ ४३॥

सूक्ष्मेण दिव्यलोकेन स्थललोकस्य देहिन: ।
सम्बन्धकारको ज्ञेयः कोशः प्राणमयश्वरः ॥४४॥

क्रियाशील प्राणमय कोष को स्थूललोक के प्राणी का सूक्ष्म दिव्यलोक के साथ सम्बन्ध करा देने वाला जानना चाहिये ॥४४॥

यदि प्राणमये कोशे पीठं स्थापयितुं क्षमः ।
कथञ्चित् स हि मे शक्ति दैवीमनुभवत्यसौ ॥४५॥

यदि प्राणमयकोष में कोई पीठ स्थापन कर सके, तो वह कथाचित् इस दैवी शक्ति का अनुभव कर सकेगा ॥४५॥

पञ्चकोशा अपि व्यष्टिसमष्टयोर्भेदतः सदा ।
ऐक्यमेवाभयन्तीति यूयं श्रोतुं ततोऽर्हथ ॥४६॥

पञ्चकोष भी व्यष्टि और समष्टि के भेद से निरन्तर ऐक्य का ही आश्रय करते हैं, इस विषय को आप ध्यान पूर्वक सुनिए ॥ ४६॥

समष्टिरूपकोशस्य रहस्य व्यष्टिकोशके ।
आविर्भवति नित्यं तन्त्रात्र कार्या विचारणा ॥४७॥

समष्टिरूप कोष के रहस्य का व्यष्टि कोष में नित्यरूप से आविर्भाव होता है, इसमें सन्देह करने का कारण नहीं है ॥४७॥

यदा कुण्डलिनी शक्तिराविर्भवति साधके ।
तदा स पञ्चकोशे मत्तेजोऽनुभवति ध्रुवम ॥४८॥

साधक में जब कुण्डलिनी शक्ति का आविर्भाव होता है, तब वह अवश्य ही पञ्चकोषों में मेरे तेज का अनुभव करता है। ॥४८॥

द्रव्यमन्त्रमनःशुद्धया तथा तच्छक्तियोगतः।
स्थूलेऽपि दिव्यदेशेऽस्मिन् पीठाविभूतिरिच्यते ॥४९॥

पीठसाहाय्यमाश्रित तीर्थप्स्तरविग्रहे।
आविर्भवति मे शक्तिदवीत्येतद्विनिचितम् ॥५०॥

उसी की शक्ति से और द्रव्य, मन्त्र तथा मन की शुद्धि से इस स्थूल दिव्यदेश में भी पीठों का आविर्भाव होता है। इसमें सन्देह नहीं कि, पीठ की सहायता का आश्रय लेकर तीर्थों में और पत्थर की मूर्ती में मेरी दैवी शक्ति का आविर्भाव होता है ॥४९-५०॥

तीर्थानि दिव्यदेशाश्राप्यानेके परिकीर्तिताः ।
कमोपास्तिममावेण इथलालोकेऽपि साधकाः ॥५१॥

एवं विधान पीठानां प्रतिष्ठा कुर्वते सदा ।
उपास्तिः सात्विकत्वादिभेदेन त्रिविधा मता ॥५२॥

तीर्थ और दिव्यदेश अनेक कहे गये हैं। साधकगण कर्म एवम् उपासना के प्रभाव से स्थूल लोक में भी इस प्रकार के पीठों की सदा प्रतिष्ठा किया करते हैं। सात्त्विक आदि भेद से उपासना तीन प्रकार की होती है ॥५१-५२॥

तद्वत्पीठाश्रयं प्राप्य ऋषीन्देवान् पितॄँस्तथा।
असुरान् शक्तिभूतान्ने प्रत्यक्षं दीक्षते मुदा ॥५३॥

तदनुसार पीठ का आश्रय कर मेरे शक्तिभूत ऋषि, देवता, पितर और श्वसुरों को साधक प्रसन्नता से प्रत्यक्ष देख सकता है ॥५३॥

सच्चादिगुणमेदेन साधकस्य समीह्या।
एतासां मम शक्तीनां दर्शनं तिमृणां पृथक् ॥५४॥

सत्त्वादिगुण भेद से साधक अपने इच्छानुसार मेरी उक्त तीनों शक्तियों का पृथक् पृथक स्वरुप देख सकते हैं। ॥५४॥

साधकानामथ स्थूले लोके पीठप्रतिष्ठया।
मां द्रष्टुं मद्विभूतीर्वा कुमारीनविग्रहाः ॥५५॥

मुद्राशवाग्नियन्त्राणि वपुः स्वीथ तथैव च ।
मुख्यावलम्बनान्याहुरष्टैवैतानि सर्वथा ॥५६॥

साधकों के अर्थ स्थूल लोक में पीठ प्रतिष्ठा द्वारा मुझको या मेरी विभूति को देखने के लिये कुमारी, बटुक, मूर्ति, मुदा, शव, अग्नि, यन्त्र और निज शरीर यही आठ प्रधान अबलम्बन कहे गये हैं ॥५५-५६॥

तत्रापि देवरूपाणि तमानामग्नितत्मकम् ।
मुख्यावलम्बनं प्राहुस्तवमध्यगतं हि तत् ॥५७॥

उनमें भी देवताओं की मूर्तियां और सब तत्त्वों का मध्यवर्ती अग्नितत्व प्रधान अवलम्बन है ॥५७॥

तथा मुद्रा मता लोके स्त्रीपुंस्तदुभयात्रिया।
इयं मुद्रा तु बहुभिश्चक्रशब्देन चोच्यते ॥५८॥

मुद्रा भी स्त्रीमुद्रा, पुंमुद्रा और उभ्यात्मिक मुद्रा इस प्रकार से विविध हैं। इस मुद्रा को बहुत से लोग चक्र भी कहते हैं। ॥५८॥

तस्यापि भेदाः सप्तेति विदुः केचन योगिनः।
यन्त्राण्यप्यमितान्याहर्योगिनो यन्त्रवेदिनः ॥५९॥

कोई कोई योगी उसके सात भेद मानते हैं। यन्त्रवेत्ता योगियों ने यन्त्र भी अनेकों तरह के कहे हैं। ॥५९॥

पीठोत्पनकरेष्वेषु साघनोबष्टकेष्प्पी।
योगिभिस्तु निजं देहं साधनोत्तसमीरितम् ॥६०॥

पीठ को उत्पन्न करने वाले आठ साधनों में योगियों ने निजदेह को ही उत्तम साधन कहा है ॥६०॥

अष्टासु कारणेवेष्षु द्रव्यमन्त्रविशुद्धितः।
मनसः संयमेनापि कोशे प्राणमये ध्रुवम् ॥ ६१ ॥

पीठमुत्पद्यते तस्मिन् कोशे तन्त्र प्रतिष्ठिते ।
आविर्भवन्ति मे सर्वाः शक्तयस्तत्र निश्चितम् ॥६२॥

इन आठों अवलम्बनो में द्रव्यशुद्धि और मन्त्रशुद्धि द्वारा एवम् मन को संयम करने प्राणमय कोष में पीठ उत्पन्न होता है। प्राणमयकोष में पीठ प्रतिष्ठित होने से वहां निश्चय ही मेरी समस्त शक्तियों का आविर्भाव होता है ॥६१-६२॥

किन्तु द्रव्यमनःशुद्धिमन्त्रशुद्धयाद्यभावतः ।
तथोपासनया चापि दिग्बन्धादिप्रयत्नतः ॥६३॥

पीठस्थानस्य रक्षा चेत्समीचीना भवेत्र हि ।
तथोक्तस्य च योगस्य पवित्रत्वाद्यभावतः ॥६४॥

बहवस्तत्र जायन्तेऽन्तराया असुरैः कृताः ।
मनासंयमिनो। वच्मि युष्मद् भव्याय साप्रतम ॥६५॥

किन्तु द्रव्यशुद्धि मनःशुद्धि और मन्त्रशुद्धि आदि के न होने से तथा उपासना और दिग्बन्धादि के प्रयत्न से पीठस्थान की भलीभांति रक्षा ठीक न हुई तो उक्त याग में पवित्रता आदि के अभाव से असुरों द्वारा अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं। इसलिये हे मन को संयमित करने वालो! आपकी भलाई के हेतु मैं इनका वर्णन कहता हूँ ॥६३-६५॥

नास्त्यस्मात्सुगमः पन्या निर्भ्यश्चाप्ययोत्तमः ।
योगिनो जगतश्रास्य श्रेयःसंपादनेहया ॥६६॥

पीठं संस्थाप्य मां वापि मच्छत्तीदृष्टमिच्छतः।
स्वान्तःकरणमेवास्थ साधन चोत्तमोहम् ॥६७॥

कि योगिगण इस जगत के मंगल कामनार्थ मुझे या मेरी शक्तियों को देखने की इच्छा से पीठ की संस्थापना के लिए अपने अन्त:करण को ही उत्तमोत्तम साधन समझते हैं। इससे सुगम, निर्भय और उत्तम अन्य मार्ग नहीं है। ॥६६-६७ ॥

तत्वज्ञाः ! पुरतो वोऽहं जगच्छे योऽभिलाष्या।
अतिगूढ़ रहस्यं तच्छृणुध्वं यद् ब्रवीयहम् ॥६८॥

हे तत्त्वज्ञानियो ! आपके समक्ष जगत कल्याण की अभिलाषा से मैं अत्यन्त गूढ़ रहस्य कहता हूँ, इसे सुनिए ॥६८॥

वाङमनोऽगोचराया मे शक्तेर्भेदा:कर्मेण ह।
चत्वार ईरिताः स्थूलभूक्ष्मकारणमेदतः ॥६९॥

चतुर्थस्तु तुरीयः स्याज्ज्ञानको न संशयः ।
निश्चलो हि ममाङ्गे स सततं तिष्ठति ध्रुवम् ॥७०॥

वाणी और मन से अगोचर जो मेरी शक्ति है, उसके भेद क्रमशः चार कहे गये है। स्थूल, सूक्ष्य, कारण और चौथा तुरीय। तुरीय शक्ति ज्ञान स्वरुप है, इसमें सन्देह नहीं है। यही तुरीय शक्ति निश्चलरूप से मेरे अंग में निरन्तर रहती है ॥६९-७०॥

या च कारणरूपा मे तृतीया शक्तिरस्ति सा।
ब्रह्माविष्णुमहेशानां जनयित्री मता पर ॥७१॥

मेरी कारणरूपा तृतीय शक्ति ब्रह्मा, विष्णु और महेश की जननी है ॥७१॥

द्वितीयस्याच सूक्ष्माया साहाय्येन त्रयसित्वमे।
ब्रह्माण्डजनुराधानस्थितिनाशकरा मताः ॥७२॥

द्वितीय सूक्ष्मशक्ति की सहायता से ब्रह्मा, विष्णु और महेश ब्रह्माण्ड का सृजन, पालन और संहार किया करते है । ॥७२॥

स्थूला तु दृश्यमानेऽत्र संसारेऽनन्तरूपतां।
कुर्वती चाऽपि वैचित्र्यं व्याप्नोत्लभ्यखिलं जगत् ॥७३॥

और प्रथमा स्थूलशक्ति इस दृश्यमान संसार में अनन्तरूप बनाया करती है, एवं सम्पूर्ण जगत में विचित्रता को उत्पन्न करती हई व्यापक रूप से स्थित रहती है ॥७३॥

इयं तु सप्तधा भिन्ना योगिभिदर्शयते सदा।
अस्य एव हि में शक्तेधारेष्वष्टसु ध्रुवम ॥७४॥

साहाय्येनैव दिव्यानां पीठानामुद्भवः स्मृतः।
प्रोक्ताः सर्वे इमे भेदाश्चिच्छत्तेरेव में मताः ॥७५॥

योगिगण इस शक्ति को सप्तधा विभक्त देखते हैं। इसी में मेरी शक्ति की सहायता से आठ आधारों में दिव्य पीठों का प्रादुर्भाव होता है। यह सभी भेद मेरी चितशाक्ति के ही कहे गये हैं ॥७४-७५॥

पीठसाहाय्यतश्चैवं भक्तिमानुक्तसाधकः।

सूक्ष्मसम्बन्धितामेत्य दृष्ट्वा शक्तिर्ममामिताः॥७६॥

तथा मे शतशो लोक विभूतीः परिदृश्य च।
कृतकृत्यत्वमेवैतीत्येतज्जानीत निश्चितम् ॥७७॥

पीठ की सहायता से पूर्वाक्त भक्तिमान साधक सूक्ष्मसम्बन्ध को प्राप्त कर और मेरी असीम शक्ति को तथा संसार में मेरी असंख्य विभूतियों को देखकर कृतकृत्य हो जाता है, यह निश्चय रूप से जानिये ॥७६-७७॥

इह यावन्ति तीर्थानि तानि पीठानि संजगुः।
पीठशक्तियुतान्यत्र सन्ति तीर्थान्यनेकशः ॥७८॥

संसार में जितने तीर्थ हैं, वह सभी पीठ कहे जाते हैं। ऐसे पीठ शक्ति युक्त अनेक तीर्थ संसार में विद्यमान हैं ॥७८॥

केषुचित्तीर्थदेशेषु शक्तिमें संततं स्थिता ।
केषुचित्तु यथाकालं भक्तिश्रद्धायुता नराः ॥ ७९ ॥

आराधयन्ति तावद्धि मम शक्तिर्विनिश्चिता।
कतिचिद्भक्तवशयानि तीर्थानि तदा भक्तितः ॥८०॥

आविर्भवन्ति तत्रैव तिष्ठन्ति तदिच्छ्या।
यथा सर्वेषु कायेषु गवां तिष्ठति गोरसः ॥८१॥

तथापि गोस्तनादेव स्रवतीति विनिश्चितम् ।
तथैव मामिका शक्तिर्विद्यमानाऽपि सर्वतः ॥८२॥

नित्यनैमित्तिक पीठैराविर्भवति भूतले।
जगतां श्रेयसे विज्ञाः ! श्रुणुध्वं यन्मयोच्यते ॥८३॥

किसी किसी तीर्थ में मेरी शक्ति निरन्तर रहती है। किसी किसी तीर्थ में जब तक मनुष्य श्रद्धाभक्तिपूर्वक समय समय पर आराधना करते हैं, तब तक मेरी शक्ति निश्चितरूप से रहती। हैं। कोई तीर्थ भक्त के अधीन रहते हैं। वह भक्त की भक्ति से आविर्भूत होकर उसकी इच्छा से वहीं विद्यमान रहते है। जिस प्रकार गौ के समस्त शरीर में गोरस रहता है, परन्तु स्तन से ही बाहर निकलता है; उसीप्रकार मेरी शक्ति सर्वत्र विद्यमान होते हुए भी पृथ्वी पर नित्य और नैमित्तिक पीठ द्वारा आविर्भूत होती है। हे विद्वानो ! संसारके कल्याणके लिये जो मैं कहता हूँ उसे ध्यानपूर्वक सुनिए ॥७९-८३॥

अध्यात्ममधिदेवञ्चाविभूतमिति भेदतः ।
ममैवेयं त्रिधा शक्तिः कर्मेणैभिरधिष्ठिता ॥८४॥

ऋषिभिर्देववृन्देश पितृमिश्र यथाक्रमम।
शक्तिर्मे याऽऽसुरी चास्ति सादैव्यन्तर्गता मता ॥८५॥

अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत भेदों के अनुसार मेरी यह त्रिविध शक्ति क्रमशः ऋषि, देवता और पितरों द्वारा अधिष्ठित है। मेरी आसुरी शक्ति दैवी शक्ति के ही अंतर्गत है ॥८४-८५॥

केबलं सत्वतमसो भेदेलेपन्तु भिद्यते ।
देवेष्वसुरसंघेषु क्रमशो विनिवेशिता ॥८६॥

केवल सात्विक और तामसिक भेद से मेरी शक्ति दो भागों में विभक्त होकर वह देवता और असुर समूह में क्रमशः स्थित है ॥८६॥

ऋषयो देववृन्दाश्च बहुधा परिकीर्तिताः।
नित्यनैमित्तिकाभ्यां ते भेदाभ्यां पितरो द्विधा ॥८७॥

ऋषि और देववृन्द अनेक कहे गए हैं। पितृ द्विविध हैं, एक नित्य और दूसरे नैमित्तिक ॥८७॥

ऋषयो ज्ञानराज्यस्य देववृन्दाश्च कर्मणः।
पितरः स्थूलदेहस्य क्रमेणते नियामका: ॥८८॥

ऋषिगण ज्ञानराज्य के, देवतागण कर्म के और पितर स्थूल देह के यथाक्रम नियामक है ॥८८॥

देवानुग्रहमासाद्य सृष्टिस्थितिलया क्रमात् ।
लोकस्यास्य प्रजायन्त इति पौराणिका विदुः ॥८९॥

पुराण तत्ववेत्ता जन कहते हैं कि, देवताओं के अनुग्रह से संसार का सृजन, पालन और संहार होता है ॥८९॥

यज्ञादिकर्मणा देवा हृष्टपुष्टाश्च सर्वथा।
यतन्ते जगदुनन्त्यै तुष्टाश्च जीवश्रेयसे ॥९०॥

अनादि कर्म से देवतागण हृष्टपुष्ट और संतुष्ट होकर जगत की उन्नति और जीवों के कल्याण के लिए सर्वथा प्रयत्न किया करते हैं ॥९०॥

आधिदैविकसृष्टेस्तु शक्र एवास्ति रक्षकः ।
नरकप्रेतलोकानां थमेराजस्तथेरितः ॥९१॥

आधिदैविक सृष्टि के इन्द्रदेव और नरक तथा प्रेतयोगों के धर्मराज रक्षक हैं। ॥९१॥

इत्थं सत्तास्ति में दैवीशक्तिर्ब्रह्माण्डरक्षणे।
मनुष्याः श्रद्धया हीनाः क्रियाज्ञानविवर्जिताः ॥९२॥

शक्नुवन्ति न मे द्रष्टुं दैवी शक्तिमानन्दिताम्।
माया मे मोहयत्येताच भ्रामयन्त्यनिशं सुधा ॥९३॥

इस प्रकार मेरी दैवी शक्ति ब्रह्माण्ड की रक्षा करने में निरंतर यत्नशील है। श्रद्धाहीन, क्रियाहीन और ज्ञानहीन मनुष्य मेरी विशुद्ध देवी शक्ति को नहीं देख सकते । मेरो माया उन्हें व्यर्थ ही भ्रम में डालती हुई निरन्तर मोहित करती है। ॥९२-९३॥

वेदशास्त्रादिपाठेन तथा यज्ञादिसाधनात्।
प्रजया पितृपूजाद्यै: ऋणत्रयविमोचनात् ॥९४॥

आध्यात्मिक्याधिदैव्याधिभौतिकीशुद्धितस्तथा
ऋषयो देववृन्दामच तथा पितृगणाः सदा ॥९५॥

मोदन्ते तेन जगतां जनायित्री प्रसीदति।
तदा श्रद्धायुत: शक्तया साधको मां स्वरूपत: ॥९६॥

ज्ञात्वा तीर्त्वा तमोनिद्रा ज्ञानभूमि प्रपद्यते।

एवं वः कथित विप्रा ! रहमिदयुत्तमम् ॥९७॥

वेदशास्त्र आदि के पाठ द्वारा, यज्ञादि साधनों द्वारा, सन्तानोत्पति द्वारा और पितृ पूजादि द्वारा तीनों ऋणों को चुका देने और आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक शुद्धि से ऋषिगण, देवगण और पितृगण सन्तुष्ट होते हैं और उससे जगज्जननी प्रसन्न होती है। तब श्रद्धा युक्त साधक पुरुष मेरी शक्ति की सहायतासे मेरे स्वरुप को जानकर मोहनिद्रा से जागृत होकर ज्ञानभूमि में पहुँचते हैं। हे विप्रों ! यह देव शक्ति के पीठ का अतिविस्तृत माहात्म्य और उत्तम रहस्य मैंने तुम्हें सुनाया है।॥ ९४-९७ ॥

पीठस्य देवशक्तश्च माहात्म्यं बहुविस्तृतम् ।
यत्तदब्रह्म मनोवाचामगोचरमितीरितम् ॥१८॥

तत्सर्वकारणं वित्त सर्व्वाध्यात्मिकमित्यादि।
अनाधन्तमजं दिव्यमजरं ध्रुवम्व्ययम् ॥९९॥

अप्रतक्यमविज्ञेयं ब्रह्माग्रे संप्रवर्तते।
स्वेच्छामायाख्यया यत्तजन्मादिकारणम् ॥१००॥

ईश्वराख्यन्तु तत्तत्वमधिदैवमिति स्मृतम्।
सर्वज्ञः सद्गुरुनित्यो ह्यांतयामि कृपानिधिः ॥१०॥

सर्व्वसद्गुणकारात्मा दोषशून्यः परः पुमान्।
यत्कार्यब्रह्म विश्वास विधानं प्रकृतात्मनाम् ॥१०२॥

विराडाख्यं स्थूलतरमविभूतं यदुच्यते ।

यस्येहावयौवलोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः ॥१०३॥

कट्यादिभिरघः सप्त सप्तोर्ध्व जघनादिभिः।
कारणे त्रिविधा भावा सन्त्यस्माद्युक्तमेव हि ॥१०४॥

कार्यऽपि तस्य त्रैविध्यं प्रत्येकावयवेष्वपि ।
एतदेवाहुरध्यात्ममधिदेवाधिभौतिके ॥१०५॥

सृष्टिस्थितिलयास्याऽधिदेवं मुख्यमीरितम् ॥१०६॥

जो ब्रह्मगण और वाणी से अगोचार कहा गया है उसे सर्वकारण जानो। वही सबका आध्यात्मिक है। अनादि, अनन्त, अज, अजर, दिव्य, ध्रुव, अव्यय, अप्रतक्र्य, अविज्ञेय ब्रह्म ही सर्वप्रथम रहते हैं। माया नामक स्वेच्छा से ही जगत के जन्म का आदिकारण स्वरुप ईश्वरसंज्ञक जो तत्व है, इसे अधिदैव कहते है। सर्वज्ञ, सद्गुरु, नित्य, अन्तर्यामी, कृपानिधि, समस्त सद्गुणों के सारस्वरूप, दोषशून्य, परमपुरुष और जो संसार के प्रकृतविधान रूप कार्यब्रह्म हैं, वही विराट संज्ञक स्थूलतर अधिभूत कहलाते हैं। जिसके अवयवों से बुद्धिमान गण कटि से नीचे सात अधोलोक और कटि से ऊपर सात ऊर्ध्वलोक की कल्पना करते हैं। कारण में जिस प्रकार त्रिविध भाव ठीक ठीक है, कार्य के प्रत्येक अवयव में भी वह त्रिविधता विद्यमान है। यही अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत रहस्य है। इस संसार की सृष्टि, स्थिति और लय के लिए आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक इन तीनो को अधिदैविक ही मुख्य कहा गया है । ॥९८-१०६ ॥

इति श्रीमूर्यगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे सूर्यऋषि सम्वादेऽधिदैवरहस्यनिरूपण नाम प्रथमोऽध्यायः।

इस प्रकार श्रीसूर्यगीतोपनिषद् के ब्रहाविद्या सम्बन्धी सूर्य ऋषि संवादात्मक योगशास्त्र का अधिदैवरहस्य निरूपण नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

॥ॐ सवित्रे नमः ॥

॥श्री सूर्य गीता ॥

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः॥

पंचोपास्ति निरूपणं: पञ्चदेव उपासना निरूपण

ऋषय ऊचुः॥१॥

महर्षियों ने कहा ॥१॥

भगवन ! यचछरुतं पूर्वं भक्त्यास्माभिरनुत्तमम् ।
अध्यात्मभावसम्पूर्ण रहस्यं चेतस: प्रियम ॥२॥

तेन प्राकसञ्चितोऽस्माकं मोहोऽयं विगतोऽभवत्।
यथाऽधिदैवभावोऽपि सन्देहो नास्ति नोऽधुना ॥३॥

हे भगवन् ! अध्यात्मभावपूर्ण, मनोहर, अत्यन्त उत्तम जो रहस्य हम लोगों ने भक्तिपूर्वक सुना, उससे हमारा पूर्वसञ्चित अज्ञान नष्ट हो गया है। अधिदैवभाव के सबन्ध में भी हमें कोई सन्देह नहीं है। ॥२-३॥

इदानीं ब्रूहि नो ब्रह्मन्। उपास्यविधिमुत्तमम् ।
वांङमनोगोचरातीतं निराकारश्च निर्गुणम् ॥४॥

कथं तद्ब्रह्म पुरुषैरुपास्यं बुद्धयगोचरम् ।
भगँवस्त्वं महोदारः भक्तानां तापनाशकः ॥५॥

लोकोपकारनिरतः सर्वशक्तियुक्तः प्रभुः ।
अतोऽस्मान् तस्य तत्वस्य दुर्ज्ञेयस्य विशेषतः ॥६॥

सुगमां पद्धति प्रोच्य कृतकरयान् कुरुष्व नः ॥७॥

अब हे ब्रह्मन् ! हमें उत्तम उपासना विधि सुनाइये। वाणी और मन से अगोचर, निराकार, निर्गुण, बुद्धि से परे स्थित ब्रह्म की उपासना पुरुष कैसे कर सकेंगें। हे भगवन्। आप महान् उदार हैं, भक्तों के त्रिताप का नाश करते हैं, परोपकार में निरत हैं, सर्वशक्तिमान हैं और सर्वसमर्थ हैं, इसलिये हमें उस विशेष दुर्ज्ञेय तत्व की सुगम पद्धति को सुनाकर कृतार्थ करें ॥४-७॥

सूर्य उवाच ॥८॥

श्री सूर्यदेव बोले:

रहस्यं सगुणोपास्तेर्ज्ञातव्यं श्रूयतां स्फुटम् ।
पञ्चोपास्यतमा देवा सगुणं ब्रह्म साधवः ॥९॥

हे साधुगण ! सगुण उपासना का रहस्य आपको जानना है, तो सुनिये ॥ ९॥

निर्गुणं दुर्गमं यस्मात्सगुणोपासना ततः ।
सगुणाब्रह्मणः पञ्च श्रेष्ठान्भावान्मविता ॥१०॥

उपस्यों में श्रेष्ट पञ्च देव ही सगुणा बझ है। निर्गुण की उपासना दुर्गम होने के कारण सगुण ब्रह्म दल के पाँच पाचौंका सगुणोपासना में आश्रय किया गया है ॥१०॥

निर्गुणब्रह्मणः कार्य जगददृश्यमयं यत: ।
अनन्तं निखिला भावा अनन्ता कीर्तितास्तवः ॥११॥

निर्गुण ब्रह्म का कार्यस्वरूप दृश्यमय जगत् अनन्त होनेसे उसके सम्पूर्ण भाव भी अनन्त कहे गये हैं ॥११॥

भावातीतस्यापि परब्रह्मणः पञ्चभिः परैः।
भावैरुपास्तिर्विहिता सगुणब्रह्म चाम्यहम् ॥१२॥

भावातीत परब्रह्म की उपासना उत्तम पाँच भावों के द्वारा करने की विधि है, और सगुण ब्रह्म मैं ही हूँ ॥१२॥

महामाया यदाऽव्यक्ता लीनास्ति ब्रह्मणि स्वयम
तदाऽद्वैतपरब्रह्माभावो राजत्यलौकिकः ॥१३॥

महामाया जब स्वयं ब्रहा में लीन होकर अव्यक्त अवस्था में रहती है। तब परब्रह्म का अलोकिक अद्वैत भाव प्रकाशमान रहता है।॥१३॥

सचिदानन्दभावोऽसौ गम्यते यतयैकया
तदा स्वरूपावस्थेयमध्यात्मेति निगयते ॥१४॥

जब केवल वह इस सचिदानन्द भाव में लीन होती है, तब उस स्वरूपावस्था को अध्यात्म कहते हैं ॥१४॥

प्रादुरास्ते जगन्माता वेदमाता सरस्वती ।
यस्या न प्रकृतिः सेयं मूलप्रकृतिसंज्ञिका ॥१५॥

जगजननी वेद माता सरस्वती प्रादुर्भूत होती हैं, जिनकी कोई प्रकृति नहीं और जो स्वयं मूलप्रकृति के नाम से अभिहित होती है ॥१५॥

ब्रह्मलीना महाशक्तिर्ब्रह्मणा लिङ्गितेव सा ।
यदा विलोक्यतेऽवस्था तदैव सगुणा मता ॥१६॥

जिस अवस्था में ब्रह्मा में लीन महाशक्ति ब्रह्म में लीन होने के कारण समान देखी जाती है, उस अवस्था को सगुण अवस्था कहते हैं। ॥१६॥

ईश्वरोऽसावसौ चाऽधिदैवभावोऽघार्यताम।
ब्रह्मेशभाव एकोऽपि भिन्नवद भाति मायया ॥१७॥

इसी को ईश्वर भाव अथवा अधिदैव भाव जानना चाहिए। ब्रह्म भाव और ईशभाव एक ही होने पर भी माया के कारण विभिन्न प्रतीत होते हैं ॥१७॥

ब्रह्माधिदैवावस्थायामेवोपास्तिर्ही पञ्चधा
पञ्चदेवात्मिका पञ्च सुपुणोपासना इमाः ॥१८॥

ब्रह्मा की अधिदैव अवस्था में ही पाँच प्रकार की उपासना की विधि है। यह पाँच सगुणोपासनाएँ पंच देवात्मक हैं।॥ १८॥

चितप्रधानो महाविष्णु: सूर्यस्तेज प्रधानक: ।
शक्तिप्रधाना सा देवी विश्वशक्तिप्रकाशिनी ॥१९॥

ज्ञानाप्रधानो गणपः सत्वप्रधानः सदाशिवः।
पञ्चैते विवुधा ईशा सगुण ब्रह्मसंज्ञका ॥२०॥

उनमें से महाविष्णु चित्त प्रधान है, सूर्यदेव तेजः प्रधान हैं, भगवती शक्तिप्रधाना हैं है जो विश्व में शक्तियों का प्रकाश करती हैं, गणेशजी ज्ञान प्रधान है और भगवान् सदाशिव सत्प्रधान हैं। यही पाँच देव सगुण ब्रहासंज्ञक ईश्वर हैं ॥१९-२०॥

पञ्चधा सगुणोपास्तावधिकारोऽधिकारिणाम्।
भेदतः पञ्चगीतासु कीर्तिताः पञ्चदेवताः ॥२१॥

एत एव परा देवाः सगुणा जगदीश्वरा।
ब्रह्मविष्णुशिवादीनां जनक एत एव ते ॥२२॥

अधिकारि भेद के अनुसार पाँचों सगुण देवों की उपासना करने का अधिकारियों को अधिकार है, और पाँचों देवताओं का वर्णन पाँचों गीताओं में पृथक पृथक किया गया है। यही पाँच श्रेष्ठ सगुण देव जगदीश्वर हैं और यही ब्रह्मा, विष्णु, शिवआदि के जनक हैं। ॥२१-२२॥

ब्रह्माण्डानन्त्यतो ब्रह्मा विष्णुरुद्रा मुनीश्वरा:।
अनन्ता एत एवान्यानन्तमिदहेतवः ॥२३॥

हे मुनीश्वरों ! प्रधान अनन्त होने के कारण ब्रह्मा, विष्णु महेश अनन्त है और ये ही अन्यान्य अनन्त देवताओं के कारण स्वरूप हैं।॥२३

अहमेवास्मि चिद्भाव: सद्भावोऽपि भवाम्यहम्।
आनन्दभावरूपेणाऽप्यहमेवाऽमि सत्तमा: ॥२४॥

मैं ही चिद्भाव हूँ और मैं ही सद्भाव हूँ। हे महर्षियों! आनन्दभाव भी मैं ही हूँ ॥२४॥

आनन्दो व्यापकत्वेन द्वयोरेनास्ति चित्सतो:
स्पष्टं प्रमाणमेतस्मिन् प्राजास्तत्त्वबुभूत्सवः ॥२५॥

व्यक्तौ विषयसम्बद्ध आनन्दः स्वनुभूयते।
चितः सत्तश्चानुभवे तस्यानुभवो ध्रुवम ॥२६॥

चित और सत दोनों में आनन्द व्यापक रूप से स्थित है। हे तत्व जिज्ञासु महर्षियो! इस विज्ञान का स्पष्ट प्रमाण यह है कि, प्रत्येक व्यक्ति में विषय से सम्बद्ध आनन्द का अनुभव होता है और वह आनन्द केवल सत् और चित् में अलग अलग अनुभूत नहीं होता ॥२५-२६॥

निजचेतनसत्ताया निजास्तित्वस्य च स्वतः ।
स्वस्वचैतन्यसत्ताभ्यां दृश्ये वनुभवस्तयोः ॥२७॥

अपनी चेतनसत्ता और अपने अस्तित्व का अनुभव आपने अपने चैतन्य और अस्तित्त्व के द्वारा दृश्य में होता है ॥२७॥

निर्गुणं ब्रह्म सगुणं निजानन्दाय जायते ।
प्रकाशते च प्रकृतिपुरुषालिङ्गनादयम् ॥२८॥

यथार्थ में निर्गुण ब्रह्म अपने आनन्द के लिए ही सगुण बन जाते है और प्रकृति तथा पुरुष के एकाकार से वह आनन्द प्रकाशित होता है ॥२८॥

रसो वै स इति श्रुत्या स आनन्दो रसो मतः ।
स शृङ्गार इति प्राज्ञा जानन्ति परमर्षयः ॥२९॥

'रसो वै सः' इस श्रुति से वही आनन्द रस नाम से प्रसिद्ध है। हे प्राज्ञों! महान् ऋषिगण उसी को श्रृंगार कहते हैं ॥२९॥

शुद्धश्च मलिनश्चासौ शृङ्गारो द्विविधो रसः ।
ब्रह्मानन्दमयः शुद्धो विषयानन्दकोऽपरः ॥३०॥

शृङ्गार रस दो प्रकार का होता है- शुद्ध और मलिन। ब्रह्मानंद श्रृंगार शुद्ध और विषयानन्दमय मलिन श्रृंगार है ॥२०॥

महादेवीपुरुपयोमिथुनत्वदेति चेत ।
भान्ति पञ्च तदा भावा ब्रह्मानन्दानुकूलतः ॥३१॥

महादेवी और परमपुरुष का जब एकत्व होता है, तब ब्रह्मानन्द के अनुसार पाँच भाव प्रकट होते हैं ॥३१॥

चितेज: शक्तिविज्ञानस्द्रूपा परमा मता:।
पञ्च भावास्तत्र चिता चेतनोऽस्मीति निश्चय ॥३२॥

प्रकृतिः प्राकृतं विश्वं देव्याश्लेष्णमीश्वरे।
हव्यास्तित्वं विराद्र पे तेजसैव प्रकाशते ॥३३॥

वह पाँच भाव चित्त, तेज, शक्ति, विज्ञान और सत के नाम से परम प्रसिद्ध हैं। उनमें से चित के द्वारा मैं चेतन हूँ, इस प्रकार का निश्चय होता है। प्रकृति और प्राकृतिक विश्व, ईश्वर के साथ भगवती का एकत्व और विराट रूप में दृश्य का अस्तित्व यह तेज से ही प्रकाश को प्राप्त होते हैं। ॥३२-३३॥

शक्त्या क्रियाभिव्यक्तिश्च द्वैवस्वानुभवस्ततः।
ततः सगोखिलावस्थापरिणामो विराजते ॥३४॥

शक्ति के द्वारा क्रियाभिव्यक्ति, द्वैत का अनुभव और कृषि की अखिलावस्थामा परिणाम यह सब होते हैं।॥३४॥

स्वरूपं च तटस्थं च ज्ञानं द्विविधीक्षते ।
सानुभवसिद्धस्य विस्तृतनिर्षप्रयोजना ॥३५॥

स्वरुप ज्ञान और तटस्थज्ञान इस तरह से दो प्रकार का ज्ञान है। इसका सबको अनुभव है, अतः ज्ञान के विषय को विस्तार के साथ समझाने की आवश्यकता नहीं है। ॥३५॥

अस्तिभावो हि सद्भावी निर्गुणऽद्वैतरूपतः।
सोऽस्ति तस्मात पृथकत्वेन सद्भायो नैव विद्यते॥३६॥

अस्तिभाव ही सद्भाव है वह निर्गुण में भी अद्वैत रूप से है। 'वह है' इससे पृथक सद्भाव अन्य कोई नहीं है।॥३६॥

सगुणे सगुगत्वेन स्वतः सोऽस्ति ततो निजम् ।
जन्मस्थितिलयाध्यक्ष सगुण ब्रह्म मन्यते ॥३७॥

सगुण में सगुणरूप से स्वयं वह स्थित है। अतः अपने को सृष्टि, स्थिति तथा लय का अध्यक्ष सगुण ब्रह्म मानते हैं। ॥३७॥

एतेषां पञ्चभावानां विज्ञानात्समजायत।
उपासनानां पञ्चानां सगुणान समुद्भवः ॥३८॥

इन्ही पूर्व वर्णित पाँच भावों के विज्ञान से पञ्च सगुण उपासनाओं का प्रादुर्भाव हुआ है। ॥३८॥

सच्चिदानन्दभावानाद्वैते ह्येकरूपता।
एषां त्रयाणां भावानामतोऽत्रानुभवः समम ॥३९॥

सच्चिदानन्द भावों की अद्वैत में एकरूपता रहती है। उस दशा में इन तीनों भावों का अनुभव एक साथ होता है। ॥३९॥

तद्विष्णोरिति वाक्योक्तसेवदेव परं पदम्।
कृतार्थतैव सर्वेषामनैवेति सुगीयते ॥४०॥

यही 'तद्विष्णोः परं पदम्' इस श्रुतिवाक्य का कहा हुआ परमपद है। यह प्रसिद्ध है कि, उसी परमपद में सबकी कृतार्थता होती है ॥४८॥

सञ्चितोः खलु पार्थक्यं यदा द्रष्ट्रानुभूयते ।
तदानीं ध्रुवमानन्दो व्यापको विद्यते स्फुटम् ॥४१॥

द्रष्टा जब सत् और चित को पृथक रूप से अनुभव करता है, तभी आनन्द दोनों में व्यापक रूप से अनुभव होता है।॥४१॥

यथाविधि विधेः पूजा न सत्रावलोक्यते।
चित्सत्सत्तानुभूतिर्यत द्वैते प्राधान्यतो भवेत् ॥४२॥

ब्रह्म की पूजा अधाविधि सर्वत्र नहीं देखी जाती। अतः चित्सत्ता और सत्सत्ता का अनुभव द्वैत में प्रधानता से हुआ करता है ॥४२॥

चितोऽनुभूतौ सद्भानोऽप्रधानत्वेन वर्तते ।
चेतनसानुभूतौ यत् तिष्ठत्येर ममास्तिता ॥४३॥

चित्तसत्ता के अनुभव में सत्भाव प्रधानता से रहता है । क्योकि चेतन की अनुभूति में मेरा अस्तित्व रहता ही है।॥४३॥

निजसत्तानुभूतौ तु चेतनसास्तिता स्थिता।
अन्यथानुभावे कोऽनुभविता सम्भाविष्यति ॥४४॥

और अपनी सत्ता की अनुभूति में चेतन का अनुभव रहता ही है, अन्यथा अनुभव में अनुभविता कौन होगा ? ॥४४॥

अतो हरिर्हरप्रेमणि हरस्था
अलौकिकमसादृश्यमयत्व सुविन्दते ॥४५॥

इसी विज्ञाना के अनुसार हर के प्रेम में हरि और हरि के प्रेम में हर की अलौकिक अतुलनीय तन्मयता सुशोभित रहती है ॥४५॥

चित्सतोः सञ्चितोर्वापी सहैवानुभवेन तु ।
आनन्दसत्तानुभवो भवतीति विभाव्यताम् ॥४६॥

चित् का सत के साथ और सत् का चित्त के साथ अनुभव होने से आनन्द सत्ता का अनुभव होता है, ऐसा समझना चाहिए ॥४६॥

व्यापकत्वं सुविज्ञेयं चितोऽपि च सतोऽपि च ।
अभिव्यक्ते प्रणाली तु स्वतन्त्रैवावलोक्यते ॥४७॥

निर्दर्शन विश्वमत्र प्रधानपुरुषात्मकम।
अनेक प्रकृतेः स्त्रोत पुरुषस्येतरस्फुटम् ॥४८॥

चित्त का और सत का व्यापकत्व जानना चाहिये क्योंकि उनकी अभिव्यक्ति की प्रणाली स्वतन्त्ररूप से देखी जाती है। इसका निदर्शक प्रकृति पुरुषात्मक विश्व ही है। इस विश्व एक प्रकृति का स्रोत और दूसरा पुरुष का स्रोत विद्यमान है४७-॥४८॥

सृष्ट्यादौ पुरुषो मूलप्रकृतिश्च ततः परम।
नरो नारी च सर्वत्र स्त्रीपुंभावस्तु विद्यते ॥४९॥

सृष्टि के आदि में पुरुष और मूल प्रकृति की स्थिति है। तत्पश्चात् नारीरूप से स्त्री पुंभाव सर्वत्र विराजमान है ॥४९॥

द्रष्टात्मा दृश्यदेहो यत्सर्वत्र परिलक्षयते ।

पुंभावः पुरुषे तत्र स्त्रीभाव: प्रबल: स्त्रियाम् ॥५०॥

अतः दृष्टा आत्मा और दृश्य देह सर्वत्र देखने में आता है, इसी कारण पुरुष में पुंभाव और स्त्रियों में स्त्री भाव प्रबल होता है ॥५०॥

पुंभावः जङ्गमे विप्राः स्त्रीभाव: स्थावरे तथा।
किन्तूत्कर्षापकर्षाभ्यां द्वौ भावौ स्तो द्वयोरपि ॥ ५१ ॥

हे विप्रगण ! ऐसे ही जंगम में पुंभाव और स्थावर में स्त्री भाव है किन्तु उन दोनों में उत्कर्ष तथा अपकर्ष के अनुसार दोनों भाव विद्यमान रहते हैं ॥५१॥

जङ्गमे खलु पश्वादौ चिदात्मा सद्वपुस्तथा।
नगादौ स्थावरे देवश्चित् तन्मानी स सन्नग: ॥५२॥

पशु आदि जंगमो में चित् आत्मा और सत् शरीर है, और पर्वतादि स्थावरों में तदभिमानी देवता चित् और वह पर्वतादि ही सत है। ॥५२॥

चिद्भाव पौरूषो भावः सद्भाव: प्राकृत: स च।
तयोः सर्वत्र सत्वेन व्यापकत्वं हि चित्सतो ॥५३॥

चित्भाव पुरुष का भाव और सत्भाव प्रकृति का भाव है। उन दोनों का सर्वत्र अस्तित्व होने से चित् और सत् की सर्वत्र व्यापकता है ॥५३॥

व्यापिकानन्दसत्तास्ति ततो ब्रह्म हि केवलम् ।
जगतो द्वैतमानन्दं ससर्ज कुशालोत्सुक: ॥५४॥

आनन्द सत्ता व्यापक है। इस कारण कुशल और उत्सुक ब्रह्मा ने जगत् के द्वैत आनन्द् को सृजन किया है।॥५४॥

तस्मात्स जगतः स्रष्टा सर्वव्स्य च पितामहः ।
निदानं सकलस्यस्य भुवनस्यादिकारण ॥५५॥

इसी से वह जगत् का स्रष्टा, सबका पितामह, सबका निधान और त्रिभुवन का आदिकारण कहा गया है।॥५५॥

ब्रह्मा विष्णुमहेशानां महेशेन सदाशिवः ।
विष्णुना च महाविष्णुः सम्बद्धो ब्रह्मणा न तु ॥५६॥

ब्रह्मा विष्णु और महेशों में से महेश के साथ सदाशिव का और विष्णु के साथ महाविष्णु का सम्बन्ध है-ब्रह्मा से सम्बन्ध नहीं है ॥५६॥

सदाशिवो महाविष्णुर्महादेवी गुणेश्वरः।
सूर्य्यश्च परिकार्यन्ते सगुणानहासंज्ञया ॥५७॥

सदाशिव, महाविष्णु, महादेवी, गणेशजी और सूर्यदेव सगुण ब्रह्म के संज्ञा से प्रसिद्ध है ॥१७॥

एत एवामराः पञ्च सगुणत्रमा कीर्तिताः ।
स्वस्वोपासवृन्दानां शुभदातार ईश्वराः ॥५८॥

यही पाँच देवता सगुण ब्रह्म रूप से वर्णित है, जो अपने अपने उपासकों को शुभ फल प्रदान करने में समर्थ हैं ॥५८॥

रजसोऽधिष्ठातृतया पूर्वकल्पानुसारत:।
सर्वस्रष्टतया स्रष्टा ब्रह्म नैतेषु कीर्त्यते ॥५९॥

रजोगुण के अधिष्ठाता होने से और पूर्वकल्पानुसार सब दृष्टि से कर्ता होने से सृजन करने वाले ब्रह्मा का सगुण ब्रह्म के पञ्चरूपों में उल्लेख नही है ॥५९॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाचितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥६०॥

जो जो भक्त देवता रूप जिस जिस मूर्ति की श्रद्धा पूर्वक उपासना करने में प्रवृत्त होता है, मैं उस उस भक्तकी उस उस मूर्ती विषयिणी वैसी ही दृढ श्रद्धा का विधान करता हूँ। ॥६०॥

मत्त: परतरं नान्यत् किंचितदस्ति मुनीश्वरा।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥६१॥

हे मुनीश्वरों ! मुझसे श्रेष्ठ अन्य कुछ नहीं है, सूत्र में मणिगण के समान मुझ में यह समस्त जगत् आश्रित है। ॥६१॥

बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
बलं बलवतां चाऽहं कामरावाविवर्जितम् ॥६२॥

मैं बुद्धिमानों में बुद्धिरूप हूँ; मैं तेजस्वियों में तेज रूप हूँ और बलवानों में काम और राग से रहित बलरूप हूँ। ॥६२॥

प्रणवः सर्ववेदेषु प्रमाऽमि शशिसूर्ययोः ।

इन्द्रियाणां मनाश्च मनचाऽसि भूतानामा चेतना ॥६३॥
मैं समस्त वेदों में प्रणव स्वरुप हूँ, मैं चन्द्रमा और सूर्य में प्रभारूप हूँ, मैं इन्द्रियों में मनरूप हूँ और सब प्राणियों में चेतन हूँ। ॥६३॥

अध्यात्मविद्या विद्यानां वित्त मां पौरुष।
धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि मुनिपुङ्गवाः ॥६४॥

मैं विद्याओं में अध्यात्म विद्या रूप हूँ, मुझको मनुष्यों में पुरुषार्थ समझना चाहिए और हे मुनिश्रेष्ठों! समस्त प्राणियों में मैं धर्मानुकूल काम हूँ ॥६४॥

अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च ।
वीजं मां सर्वभूतानां वित्त विप्रा: सनातनम् ॥६५॥

मैं समस्त भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी हूँ और हे विप्रों! मुझको सब भूतों का सनातन बीज समझो ॥६५॥

नान्तोऽमि मम दिव्यानां विभूतीनां महर्षयः ।
एष तृदेशतः प्रोक्तो विभूतेर्वीस्तरों मया ॥६६॥

हे महर्षियों ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। यह विभूतियों का विस्तार तो मैंने संक्षेप रूप से कहा है। ॥६६॥

ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ।
मत्त एवेति तान् वित्त न त्वहं तेषु ते मयि ॥६७॥

सात्विकभाव राजसिकमाव और तामसिक भाव सबको मुझसे ही उत्पन्न हुआ जानो। परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ, वह मुझमें हैं। ॥६७॥

आत्मनो हि प्रतिष्ठाऽहअमृदयाऽव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्म्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥६८॥

मैं आत्मा का, अविनश्वर मोक्ष का, सनातन धर्म का और परमानन्द का स्थिति स्थान हूँ अर्थात मैं ही आत्मा, मोक्ष, धर्म और परमानन्दरूप हूँ ॥६८॥

तपस्विभ्योऽधिको मक्तः शानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्म्मिभ्यश्चाऽधिको भक्तस्माभक्ता भवन्तु वः ॥६९॥

भक्त तपस्वियों से भी उत्कृष्ट है, ज्ञानियों से भी उत्कृष्ट माना गया है और कर्मियों से भी उत्कृष्ट है। इस कारण आप सभी भक्त हैं। ॥६९॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्भकतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान भजते यो मां स में युक्ततमो मतः ॥७०॥

सभी प्रकार के योगियों में भी जो मुझमें अन्तःकरण को लगाकर श्रद्धापूर्वक मेरी उपासना करता है, उसको मैं युक्ततम अर्थात् यथार्थ योगी मानता हूँ। ॥७०॥

बहूनां जन्मनामन्ते प्रज्ञावान् मां प्रपद्यते ।
परमात्मा सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥७१॥

अनेकों जन्मों के पश्चात् विवेकी मनुष्य मुझे प्राप्त होता है। " यह समस्त जगत परमात्मा है" ऐसा ज्ञान जिन महात्माओं को है, वह अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥७१॥

इति श्रीमूर्यगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे सूर्यऋषि सम्वादे पंचोपास्ति निरूपणं नाम द्वितीयोऽध्यायः।

इस प्रकार श्रीसूर्यगीतोपनिषद् के ब्रहाविद्या सम्बन्धी सूर्य ऋषि संवादात्मक पञ्चोपासना का अधिदैवरहस्य निरूपण नामक द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

॥ॐ सवित्रे नमः ॥

॥श्री सूर्य गीता ॥

॥तृतीय अध्याय॥

कर्मरहस्य निरूपणं : कर्मरहस्य निरूपण

ऋषय ऊचुः ॥१॥

महर्षिगण बोले ॥१॥

भगवन् ! केन संसारे प्राणिनः संभ्रममंतयमी।
केन तेषां निवृत्तिश्य संसाराद्रद सदगुरो ॥२॥

हे भगवन ! हे सद्गुरो! संसार में यह समस्त प्राणी आवागमन चक्र में क्यों घूमते रहते हैं और इस संसार से उनकी कैसे मुक्ति कैसे होगी, आप कृपा कर के इसका उपदेश हमें दीजिए ॥२॥

सूर्य उवाचः

श्रीसूर्य देव ने कहा ॥३॥

प्रागुत्पत्तेरकर्मैकमककृत च निरिन्द्रियम् ।
निर्विशेष परं ब्रह्मैवासीन्नात्रास्ति संशयः ॥४॥

उत्पत्ति के पहले, अकर्ता, इन्द्रियहीन, विशेषतारहित एक परब्रह्म ही थे. इसमें सन्देह नहीं है। ॥४॥

तथापि तस्य चिच्छक्तिसंयुतत्वेन हेतुना।
प्रतिच्छायात्मिके शक्ती मायाऽविद्ये वभूवतुः ॥५॥

तथापि वह चित शक्ति से युक्त होने के कारण उनकी प्रति छाया स्वरूप माया और अविद्या नामक दो शक्तियाँ उत्पन्न हुई ॥५॥

अद्वितीयमपि ब्रह्म तमोर्यत्प्रतिवबिम्बितम।
तेन द्ववैविध्यमासाद्य जीव ईश्वर इत्यपि ॥६॥

ब्रह्म के अद्वितीय होने पर भी उन दोनों शक्तियों से जब प्रतिविस्मित हुए, उसी से द्विविधता प्राप्त कर ईश्वर और जीव हुए ॥६॥

पुण्यपापादिकर्तृत्वं जगसृष्टयादिकृतताम्।
अभजत्सेन्द्रियत्वं च सुकर्मस्व विशेषतः ॥७॥

जीव पुण्य पाप का तथा ईश्वर जगत् की दृष्टि आदि का कर्ता होकर सकर्मतत्व जीव विशेषरूप से इन्द्रियत्व को प्राप्त हुआ। ॥७॥

यस्वशक्तच्या समुल्लास उदभुत्परमात्मनः
स्वबन्धजनकं सूक्ष्म तदाद्य कर्म कथ्यते ॥८॥

परमात्मा का अपनी शक्ति से जो समुल्लास उत्पन्न हुआ, अपने को बद्ध नहीं करनेवाला वही सूक्ष्म आदिकर्म कहा गया ॥८॥

न तेन निर्विशेषत्वं हीयते तस्य किञ्चन।
न च संसारचन्धश्च कश्चिद् विप्राः प्रसज्यते ॥९॥

हे विप्रो ! उससे न तो उनकी निर्विशेषता ही नष्ट होती है और न ही वह संसारबन्ध से बांधे ही जा सकते हैं॥९॥

पारमार्थिकसंसारी जीया पुण्यादिकर्मधान ।
प्रातिभासिनसंसारी त्वीशः सृष्टयादि कर्मवान ॥१०॥

वस्तुतः संसारी जीव पुण्य आदि का कर्ता और आभासमात्र संसारी ईश सृष्टि आदि का कर्ता कहा गया है ॥१०॥

असंसारि परं ना जीवेशीमयकारण।
ततोऽप्यतीतं नीरूपमवाङमनसगोचरम् ॥११॥

जीव और ईश दोनों के कारण असंसारी परब्रहा है। वह जीव और ईश से अतीत, रूपरहित एवम् वाणी तथा मन से अगोचर हैं। ॥११॥

कर्मवन्तौ परित्यज्य जीवेशौ ये महाधियः।
अकर्मवत्परं ब्रह्म प्रयान्त्यत्र समाधिभिः ॥१२॥

परम ज्ञानी पुरुष कर्मवान् जीव और ईश को छोड़ कर समाधि द्वारा अकर्मवान् परब्रहा को प्राप्त करते है ॥१२॥

ते विदेहविभुक्ता वा जीवन्मुक्ता नरोत्तमाः ।

कर्माकर्मोमयातीतास्तद्ब्रहाऽरूपमाप्नुयुः ॥१३॥

वह विमुक्त अथवा जीवन्मुक्त महापुरुष कर्म और अकर्म दोनो से अतीत होकर उस निराकार ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। ॥१३॥

कर्मणा संसृतौ बद्धा मुच्यन्ते ते ह्यकर्मणा।
बन्धमोक्षोभयातीताः कर्मिणो नाप्यार्मिणः ॥१४॥

जीवस्य कर्मणा बन्धस्तस्य मोक्षश्च कर्मणा ।
तस्माद्धेयं च कर्म स्यादुपादेयं च कर्म हि ॥१५॥

वह कर्म संसार में बद्ध होते है, वह अकर्म से छूट जाते हैं। बन्ध और मोक्ष दोनों से जो अतीत है, वह कर्मकर्ता नहीं है और अकर्मी भी नहीं है। कर्म से जीव को बन्ध होता है और कर्म से ही उसकी मुक्ति है। इसलिये हेय और उपादेय दोनों कर्म ही हैं। ॥१४-१५॥

त्यक्ते कर्मणि जीवत्वमात्मन्नो गलति त्र्यम।
गृहीते कर्मणि क्षिप्रं ब्रहम्त्व च प्रसिध्यति ॥१६॥

कर्मत्याग करने से आत्मा का जीवभाव नष्ट हो जाता है और कर्म का ग्रहण करने से शीघ्र ब्रह्मत्व सिद्ध होता है अर्थात शुद्ध कर्मों के साधन से जीव ब्रह्मत्व प्राप्त करता है। ॥१६॥

आधिकमशुद्ध यत्कर्म दु:खाय तन्नणाम।
विद्यासम्बन्धि शुद्धं यत्तत्सुखाय च कथ्यते ॥१७॥

विद्याकर्म्मेक्षुरानीमा छिन्नति पुरुषोतम:।

अविद्याकर्म्मपाशाँश्चेत्स मुक्तो नात्र संशयः ॥१८॥

अविद्यायुक्त अशुद्ध कर्म मनुष्यों के लिये दुःख का और विद्यासम्बन्धी शुद्ध कर्म सुख का कारण होता है। जो महापुरुष विद्यासम्बन्धी कर्मरूपी तीक्ष्ण छुरे से अविधासम्बन्धी कर्म रुपी पाशों काट डालता है, वह मुक्त है, इसमें कोई सन्देह नही हैं ॥ १७-१८॥

सर्वस्य व्यवहारस्प विधेः कर्मैव कारणम् ।
प्रथमं द्विविध कर्म सहजं स्वकृतञ्च तथा ॥१९॥

समस्त प्रकार के व्यवहार और विधि का कर्म ही कारण है। कर्म दो प्रकार का होता है। एक सहज और दूसरा स्वकृत ॥१९॥

सहज जीवधाराया जनकं कथितञ्च तत् ।
द्वितीयं याति त्रैविध्यं मनुष्यादिषु योनिषु ॥२०॥

सञ्चित क्रियमाणञ्च प्रारब्धमिति भेदतः।
पुण्यपापात्मकं कर्म यत्सर्वप्राणियश्चितम् ॥२१॥

अनादिसुखदुःखानां जनकं तन्निगद्यते ।
शास्त्रैस्सर्वैश्च विहितं प्रतिषिद्धं च सादरम् ॥२२॥

सहज कर्म जीव धारा का जनक कहा गया है। मनुष्यादि योनियों में स्वकृत कर्म तीन प्रकार का होता है -संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध। सब प्राणियों का संचित पुण्य पापात्मक जो कर्म है वही अनादि सुख दुःखों का जनक कहा गया है। समस्त शास्त्रों ने आदर के साथ जिन

कर्मों का विधान किया है तथा जिन कर्मों का निषेध किया है। ॥२०-२२॥

कामादिजनितं वित्त यूयं संसारकारणम ।
पश्वादीनामभावेऽपि त्योर्विधिनिषेधयोः ॥२३॥

संसारस्य न लोपोऽस्ति पूर्वकर्मानुसारतः।
पूर्व मनुष्य भूतानां पापकर्मवशादिह ॥२४॥

श्वखरोष्ट्रादिजन्मानि निकृष्टानि भवन्त्यहो।
पापकर्मसु भोगेन प्रक्षीणेषु पुनश्च ते ॥२५॥

उन सब कामादि जनित कर्मों को संसार का कारण जानना चाहिए। उन विधि निषेधों के पशुआदि में न रहने पर भी पूर्वकर्मोनुसार संसार का लोप नहीं होता। पहले जो मनुष्य है, अहो ! वही पाप कर्मों के कारण कुत्ते, गदहे, ऊँट आदि निकृष्ट योनियों को भी प्राप्त करते हैं। वही पापकर्मों को भोग लेने पर ॥२३-२५॥

प्राप्नुवन्ति मनुष्यत्वं पुनश्च श्वादिजन्मिताम।
जननैमरणैरेवं पौनः पुन्येन संसृतौ ॥२६॥

भ्रमन्त्यब्धितरङ्गःसदारुवद्धीमतां वरा ! ॥२७॥

पुनः मनुष्य होने और पुनः पशु आदि योनियों में जन्म पाते हैं। हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ ! इसी तरह संसार में पुनः पुनः जनन मरण को प्राप्त होते हुए, समुद्र के तरंगों पर पड़ी हुई लकड़ी की तरह, जीव गण घूम रहे हैं ॥२६-२७॥

ऋषय ऊचुः ॥२८॥

ऋषिगण बोले ॥२८॥

प्रक्षीणपापकर्माण: प्राप्तवन्तो मनुष्यताम।
पुनश्च श्वादिजन्मानि केन गच्छन्ति हेतुना ॥२९॥

पाप कर्म क्षीण हो जाने पर प्राणी फिर मनुष्यत्व को प्राप्त कर लेते हैं, तब उन्हें पुन: कुत्ते आदि की योनियों किसलिए जन्म ग्रहण करना पड़ता है ? ॥२९॥

न हि दुर्जन्महेतुत्वं पुण्यानां युक्तमीरितुम।
न च पुण्यवतां भूयः पापकर्मोपपद्यते ॥३०॥

पुण्यैविर्शुद्धचित्तानां ज्ञानयोगादिसाधनै:।
संसारमोक्षसंसिद्धया पापकर्मा प्रसक्तितः ॥३१॥

एक तो पुण्यवानों को दुर्जन्म नहीं मिलनी चाहिये और दूसरे पुण्यवान का पापकर्मी होना सम्भव नहीं। पुण्यकर्म से जिनके चित्त निर्मल हो गए हैं, उनके ज्ञानयोगादि साधनों द्वारा संसार से मुक्त जाने के कारण उनकी पापकर्म में आसक्ति नहीं रहेगी। ॥३०-३१॥

जीवेषु पौन:पुन्यं चेदुत्तमाधामजन्मनाम्।
नियमेनाभिधीयेत म केनापि हेतुना ॥३२॥

मोक्षशास्त्रस्य वैयर्थ्यमापतत्मेव सर्वथा।
तस्मादमापिनां जन्म पुश्चेति न युज्यते ॥३३॥

यदि उनका भी उत्तम अधम योनियों में बारम्वार जन्म ग्रहण करना किसी प्रकारसे अनिवार्य है, तो मोक्षशास्त्र की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इस कारण पुण्यात्माओं का पुनर्जन्म होता है, यह बात ठीक प्रतीत नहीं होती ॥३२-३३॥

सूर्य उवाच ॥ ३४॥

श्रीसूर्यदेव बोले ॥३४॥

प्रक्षीणेष्वपि भोगेन पापकर्म देहिनः।
पुनश्च पापकर्माणि कुर्वन्तो यान्ति दुर्गतिम ॥३५॥

प्राणिमात्र के पापकर्म भोग द्वारा क्षीण हो जाने पर पुन: पापाचरण करने पर ही उन्हें दुर्गति प्राप्त होती है ॥३५॥

तानि दुर्जन्मवीजानि कमात्पापानि देहिनाम।
पुनरप्युपपद्यन्ते पूर्वपुण्यवतामपि ॥३६॥

पूर्वजन्म के पुण्यात्मा प्राणियों के भी दुर्जन्म के बीजस्वरुप वह पापकर्म वासना के कारण पुनः उत्पन्न हुआ करते है ॥३६॥

सकामानाञ्च पुण्यानां भोगहेतुत्या नणाम् ।
न चितशुद्धिहेतुत्वं क्वचिद्भवितु महर्ती ॥३७॥

मनुष्यकृत सकाम पुण्य कर्मों के भोग हेतु होने के कारण वह कभी चित शुद्धि के कारण नहीं बन सकते ॥ ३७॥

कुताश्चाशुद्धचित्तानां ज्ञान्योगादिसम्भव: ।
ज्ञानयोगादिहीनानां कुत्तो मोक्षश्च संमृतेः ॥३८॥

अशुद्ध चित्त पुरुषों में ज्ञानयोगादि का सम्मान कैसे होगा और जो ज्ञानयोगादि से विमुख हैं उनकी संसार से मोक्ष कैसे प्राप्त होगा?॥३८॥

कामेन हेतुना सत्स्वप्युत्तमाधमजन्मसु ।
मोक्षशास्त्रस्य सार्थक्य नैष्काम्योदयहेतुकम ॥३९॥

काम्यकर्म के कारण उत्तम या अधम योनि में जन्म होने पर भी निष्काम कर्म के उदय होने से ही मोक्षशास्त्र की सार्थकता हो जाएगी। ॥३९॥

सुखदुःखोपभोगेन यदा निर्वेदमागतः।
निष्कामत्वमवाप्नोति स्वविवेक पुरस्सरम् ॥४०॥

सुख दुखों को भोग लेने पर जब मनुष्य ग्लानी की अवस्था में पहुँच जाता है, तब वह विवेकी बनकर निष्काम दशा को प्राप्त करता है ॥४०॥

तत:प्रभृति कैश्चित्स्याज्जन्मभिर्ज्ञानयोगवान् ।
श्रवणादिप्रयत्नैहि मुक्तिः स्वात्मन्यवस्थिति: ॥४१॥

फिर कई जन्मो में वह ज्ञानयोगी बनता है। श्रवणमननादि प्रयत्नो से जो आत्मा अवस्थिति होती है, वही मुक्ति है। ॥४१॥

कर्माध्यक्ष परात्मानं सर्वकर्मैकसाक्षिणम् ।
सर्वकर्मविदूरन्त कर्मवान् कथमाप्नुयात ॥४२॥

जो कर्माध्यक्ष हैं, परमात्मा हैं, सब कर्मों के साक्षी स्वरुप हैं और सब कर्मों से परे हैं, उनको कर्मवान् पुरुष कैसे प्राप्त कर सकता है। ॥४२॥

पुण्येष्वपि च पापेषु पौर्विकेषु च भोगतः ।
क्षपितेषु परात्मा स स्वयमाविभविष्यति ॥४३॥

कृतभिर्भुज्यते जीवैस्सर्वकर्मफल न तु।
साक्षिणा निर्विकल्पेन निर्लेपन परात्मना ॥४४॥

पहले के पुण्य पाप जब भोग से क्षीण हो जाते हैं तब परमात्मा स्वयं आविर्भूत हो जाते हैं। सब प्रकार के कर्मफल उनके कर्ता जीव ही भोगते हैं, सर्व साक्षी, निर्विकला, निर्लेप, परमात्मा नहीं भोगते। ॥४३-४४॥

जीवानां तदनन्यत्वात् भोगस्यविसर: कुत:
इति केचन शंक्नते वेदांतपातदर्शिन: ॥४५॥

परमार्थदशायां हि तदनन्त्वमिष्यते।
व्यवहारदशायां नानुपपत्तिश्च काचन ॥४६॥

इस पर वेदान्त तत्व से अनभिज्ञ कोई पुरुष यह सन्देह करते है कि जब परमात्मा से जीव कोई भिन्न वस्तु है ही नहीं , तब जीवों को भोग का अवसर कहां है। इसका उत्तर यह है कि परमार्थ दशा में जीव

का ब्रह्म से अनन्यत्व है किन्तु व्यव्हार दशा में अनन्यत्व नहीं है। अत: जीवों को भोग में कोई बाधा नहीं हो सकती। ॥४५-४६॥

परमार्थदशारूढ़े जीवन्मुक्ते कर्मणाम।
भोगोऽङ्गीक्रियते सम्पयग द्रिशुते च तथा सति ॥४७॥

किन्तु परमार्थ दशा में आरूढ़ जीवन्मुक्त पुरुषो में भी कर्मों का भोग माना गया है और ऐसा भली भांति देखा भी जाता है। ॥४७॥

अज्ञानां व्यव्हारैकनिष्ठानां तदानन्ता
अभोक्तृता व केनैव वक्तुं शक्या मनीषणा ॥४८॥

फिर कौन बुद्धिमान पुरुष अज्ञानी और केवल व्यवहार में तत्पर मनुष्यों के साथ ब्रह्म की अनन्यता और उनमें भोग का न होना कह सकता है? ॥४८॥

ज्ञानिनः कर्मकर्तव्यं दृश्यमानमपि स्फुटम।
उत्पादयेत्फलं नेति मन्यन्ते स्वप्नकर्मवत ॥४९॥

तद्वै युक्तं न हि स्वप्ने पापकर्तु: स्वतंत्रता।
जाग्रति प्राणिनः कर्मस्वातन्त्र्यं वर्तते खलु ॥५०॥

ज्ञानियों में कर्म कर्तृत्व स्पष्टतया दिखाई देने पर भी वह उन कर्मों को स्वप्नदशा के कर्मों की भांति मानते हैं, उन कर्मों से फलोत्पत्ति नहीं होती क्योंकि वह कर्म स्वप्न में किए गए कर्मों की तरह होते हैं और ऐसा होना ठीक भी है क्योंकि स्वप्न में कर्म करने वालों को

स्वतंत्रता नहीं रहती, केवल जागृत अवस्था में प्राणी कर्म करने में स्वतंत्र होते हैं ॥४९-५०॥

तिरश्चां जागरावस्था या भागैककारणम् ।
तथा स्वदशाः नृणा फलभोगैककारणम ॥५१॥

नृणां च जागरावस्था बालाना स्यात्तथा न तु।
यूनां वृद्धतमानां वा किमुत स्वातवेदिनाम् ॥५२॥

तिर्यग योनियों को जागृत अवस्था जिस प्रकार भोग का कारण होती है, उसी प्रकार मनुष्यों को स्वप्नदशा भी फलयोग का कारण होती है। मनुष्यों में जैसी बालकों की जागृतावस्था होती है, वैसी युवा अथवा वृद्धों की नहीं होती। फिर जो आत्मज्ञानी है, उनकी तो बात ही क्या है। ॥ ५१-५२॥

भाविभोगार्थकं कर्म जाग्रत्येव नृणां भवेत।
फलन्तु कर्मणः स्वप्ने जाग्रत्यपि युज्यते ॥५३॥

जिस कर्म का भोग भविष्यत् काल में होगा, वह कर्म मनुष्य जागृत अवस्था में ही करते है, परन्तु फल जागृत और स्वप्न दोनों में हो सकता है। ॥५३॥

कर्मण्यध्यस्य भोगं ये भोगेध्यस्याथ कर्म च
कर्म तद्भोगयोर्भेदमज्ञात्वाहुर्यहुयथेप्सितम् ॥५४॥

तेषां मन्दधियां ज्ञानवादिनां पापकारिणाम।
कथं कृतार्थतां ब्रूयामध्यासक्ष्यसम्भवाम् ॥५५॥

कर्म में भोग का और भोग में कर्म का मिथ्या ज्ञान रखते हुए कर्म और उसके भेद को न जानते हुए जो यथेष्ट कहा करते हैं, उन मन्दबुद्धि, ज्ञानवादी, पापकारी पुरुषों को मिथ्या ज्ञान के क्षय से प्राप्त होने वाली कृतार्थता हुई है, यह कैसे कहा जा सकता है। ॥५४-५५॥

कर्मण्यकर्मधीयेषाकर्मणि च कर्मधि:।
ये चाध्यासवशा मन्दा ज्ञानिनः स्वैरचारिणः ॥५६॥

वर्णाश्रमादिधर्माणामद्वैतं कर्मणैव ये ।
अनुतिष्ठन्ति ते मूढाः कर्माकयों भवताः ॥५७॥

जिनकी विहित कर्म में अविहित कर्म बुद्धि और अविहित कर्मों में विहित कर्म बुद्धि है, जो मिथ्या ज्ञान के वशीभूत हुए हैं और जो वर्ण और आश्रम आदि धर्मों को केवल कर्म के ही प्रभाव से विशेषता रहित एकाकार समझते हैं। वह मन्दबुद्धि, यथेच्छा आचरण करने वाले ज्ञानमूढ़, कर्म और अकर्म दोनों से च्युत हुए हैं। ऐसा जानना चाहिये। ॥५६-५७॥

स्वानुभूति वरिष्ठां तां सर्वानुष्ठानवर्जिताम् ।
सर्वानुष्ठानदन्तोऽपि सिद्धामाहुर्वतात्माम ॥५८॥

अभेदध्यानसाध्यां तां स्वानुभूतिं महत्तमाम।
विचारसाध्यां मन्यन्ते ते महापापकर्मिण: ॥५९॥

मनमाने कर्मों को करनेवाले होने पर भी वह सभी प्रकार के सत अनुष्ठानों से रहित अपने अनुभव को सबसे श्रेष्ठ और सिद्ध मानते हैं,

यह बड़े खेद की बात है। अभेद ध्यान से अर्थात ध्येय के साथ एकतानता के द्वारा साध्य महान स्वानुभव को जो विचार साध्य अर्थात् तर्क गम्य समझते हैं, उनको महान् पापी समझना चाहिये ॥५८-५९॥

निदिध्यासनप्यात्माऽभेदाभिध्यानलक्षणम ।
उपेक्षन्ते वृथाद्वैतज्ञानवादैक मोहत: ॥६०॥

आश्रित्यैव विचारं ये वाकयार्थमन्नात्मकम् ।
मन्यन्ते कुतकृत्यत्वमात्मनां ते हि मोहिताः ॥६१॥

आत्मा के साथ अभेदानुभूति रूप जो निदिध्यासन है, उसकी केवल वृथा अद्वैत ज्ञानवाद के मोह से उपेक्षा करते हैं। वाक्यार्थ के मनन रूप विचार का आश्रय करके ही अपने को कृतकृत्य समझते हैं, वह मूढ़ हैं। ॥६०-६१॥

आद्यज्ञानोदये काम्यकर्मत्याग उर्दीय्ते।
द्वितीयसम्मगज्ञाने तु नैमित्तिकनिराकृतिः ॥६२॥

प्राथमिक ज्ञान के उदय से काम्य कर्म का त्याग होता है। द्वितीय सम्यक ज्ञान से नैमित्तिक कर्म छूटता है। ॥६२॥

तृतीयपूर्णज्ञाने च नित्यकर्म निराकृतिः।
चतुर्थाद्वैतमाधे तु सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥६३॥

तृतीय पूर्णज्ञान होनेसे नित्य कर्म नहीं रहता और चतुर्थ अद्वैत ज्ञान होने पर साधक अति वर्णाश्रमी अर्थात वर्णाश्रम के सम्बन्ध से मुक्त होता है। ॥६३॥

नित्यनैमित्तिकोपेतज्ञानान्मुक्तिः क्रमाद्भवेत्।
सम्यगज्ञानातु सा जीवन्मुक्तिनित्यैक संघुतात् ॥६४॥

नित्य नैमित्तिक कर्मों से युक्त ज्ञान के द्वारा क्रमशः मुक्ति होती है। नित्य कर्म के साथ सम्यक ज्ञान होने से जीवों से मुक्ति प्राप्त होती है। ॥६४॥

पूर्णज्ञानाद्विदेहाख्या शाश्वती मृत्तिरिष्यते ।
यथा नैष्कमर्यसंसिद्धिर्जीवन्मुकते निरंकुशा ॥६५॥

जिस प्रकार जीवन मुक्त में निरंकुश नैष्कर्म्य सिद्धि होती है, जैसे ही पूर्णज्ञान से विदेह नाम की शास्वती मुक्ति होती है ॥६५॥

अत्रैवं सति नैष्कर्म्य ज्ञानवर्षसमुच्च्यात।
सिधयेत् क्रमेण सद्योवानान्यथा कल्यकोटिभि: ॥६६॥

ऐसा होनेपर ज्ञान और उसके समुन्च्य से क्रमशः अथवा उसी समय नैष्कर्म्य सिद्धि होती है। अन्यथा करोड़ों कल्पों में भी नहीं हो सकती। ॥६६॥

यावद्विदेहमुक्तिस्ता न सिध्याति शरीरिणः ।
तावत्समुच्चसिसद्धो ज्ञानोपासनकर्मणा ॥६७॥

जब तक मनुष्य को विदेह मुक्ति की सिद्धि प्राप्त न हो, तब तक ज्ञान, उपासना और कर्म का समुच्चय सिद्ध है। ॥६७॥

तस्माज्ज्ञामा पात्मानं ध्यानानिष्ठो महामति:
भूयान्निनजाश्रमाचारनिरतश्श्रेयसे सदा ॥३८॥

इसलिये ध्यान निष्ठ बुद्धिमान पुरुष परमात्मा को जानकर अपने कल्याण के लिये निरन्तर आश्रमोचित्त आचार पालन में निमग्न रहे। ॥६८॥

ज्ञानोपास्ती कर्मसापेक्षके ते कर्मोपास्ती ज्ञानसापेक्षके च।
कर्मज्ञाने चान्यसापेक्षके तन्मुक्त्यै प्रोक्तं साहचर्य त्रयाणाम् ॥ ६९ ॥

ज्ञान और उपासना कर्म की अपेक्षा रखते हैं, कर्म और उपासना ज्ञान की अपेक्षा रखते है तथा धर्म और ज्ञान उपासना की अपेक्षा रखते हैं। अतः मुक्ति के लिए तीनों का साहचर्य कहा गया है। ॥६९॥

ज्ञानोपास्ति स्वीयकर्मस्व्यास्याप्येकं मौक्तिर्नेव कस्यापि सिध्येत् ।
तस्मा द्वीमानश्रये दप्रमत स्त्रीण्युक्तानि श्रद्धया देहपातात् ॥७०॥

ज्ञान, उपासना एवं कर्म मे से किसी एक को भी छोड़कर किसी की मुक्ति नहीं हो सकती। अतः बुद्धिमान मनुष्य अप्रमत्त होकर मरण पर्यन्त तीनों का श्रद्धा पूर्वक आश्रय करें। ॥७०॥

यज्ञदानतपः कर्म त्याज्यं कार्यमेव तत ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥७१॥

यज्ञ, दान और तप रूपी कर्म का कभी त्याग नहीं करना चाहिये, उनको करना ही उचित है। क्योंकि यज्ञ, दान और तप मनीषियों को भी पवित्र करनेवाले है। ॥७१॥

एतान्यपि तु कर्मणि संग त्यक्त्वा फलानि च
कर्तव्यनीति मुनयो निश्चिन्त मतमुत्तमम् ॥७२॥

यह समस्त कर्म संग त्याग कर और फल की इच्छा से रहित होकर करने चाहिये। हे मुनिगण! यही मेरा निश्चित और उत्तम मत है। ॥७२॥

नियतस्य तु संन्यास कर्म्मणो नोपपद्यते।
मोहातस्य परित्यागस्तामस: परिकीर्तित ॥७३॥

नित्य कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए। यदि कोई अज्ञान से नित्य कर्मों का त्याग करे, तो वह तामसिक त्याग होगा। ॥७३॥

दुःखमित्येव यत्कर्म्म कायक्लेशभयमात त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥७४॥

जो कर्म दुःख जनक समझकर, काया क्लेश के भय से छोड़ा जाता है, वह राजस त्याग है, उससे सच्चे त्याग का फल प्राप्त नहीं होता। ॥७४॥

कार्य्यमित्येव यत्कर्म्म नियतं क्रियते बुधाः ।
संग त्यक्त्वा फलञ्चैव स त्याग: सात्विको मतः ॥७५॥

हे पण्डितगण! जो कर्म करना उचित है, वह जब निःसङ्ग और फल आशा रहित होकर निरंतर किया जाता है, तब उस त्याग को सात्विक त्याग कहते हैं ॥७५॥

इति श्रीमूर्यगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे सूर्यऋषि सम्वादे कर्मरहस्य निरूपणं नाम तृतीयोऽध्यायः।

इस प्रकार श्रीसूर्यगीतोपनिषद् के ब्रहाविद्या सम्बन्धी सूर्य ऋषि संवादात्मक कर्मरहस्य निरूपण नामक तृतीय अध्याय समाप्त हुआ।

॥ॐ सवित्रे नमः ॥

॥श्री सूर्य गीता ॥

॥अथ चतुर्थोऽध्यायः॥

कर्मविभाग निरूपणं: कर्मविभाग निरूपण

ऋषय ऊचुः ॥१॥

ऋषिगण ने कहा ॥१॥

जगद्गुरो! वयं श्रुत्वाऽधिदेव परमाद्भुतम।
रहस्यं परमं तृप्ताः परया तेऽनुकम्पया ॥२॥

तथाधिदैवी शक्तिऽनुभूय वयमद्भुताम
अनन्तामाधिदैवीञ्च विभुतिं स्म चमत्कृताः ॥३॥

हे जगद्गुरो ! आपकी आपार कृपा से हमलोग अधिदैविक रहस्य सुनकर एवं आपकी अनन्त अधिदैव विभूतियों और अधिदैव शक्तियों का अनुभव करके चमत्कृत हुए ॥२-३॥

ततोऽस्मान् कृतकृत्यत्वं नेतुं वर्णितवान्ममान् ।
पञ्चोपास्तिरहस्यं यत् पञ्चोपास्तिकृते विभो! ॥४॥

पञ्चानां सगुणानां स्वमूर्तीना भेदतोऽधुना।

तेन सर्वे वयं योग्या जाता स्मो वेदितुन्त्व ॥५॥

किञ्चिदेव पराभक्तेः स्वरूपं पापनाशनम् ।
ततस्तेऽनाद्यनन्तस्य स्वरूप्स्य सहायतः॥६॥

ज्ञात्वा स्थानेषु सर्वेषु व्याप्तस्याद्भुतकर्मणः।
रहस्यं परमं तद्वत्कर्मशक्तिः विमोहिनीम् ॥७॥

सावधाना वयं जाता इदानी कृपया विभो।
कर्म्मणोऽपरिहार्यस्य दुर्बोधस्याद्भुतस्य च ॥८॥

विभागान् वर्णयित्वाऽस्मान् मोचयेः कर्म्मबन्धनात ॥९॥

तत्पश्च्यात आपने हम लोगों को कृतकृय करने के लिए जो पञ्चोपासना जनित पांच प्रकार की आपकी सगुणमूर्ति के भेद से पञ्चोपासना रहस्य वर्णन किया उससे हम सब आपकी पराभक्ति का कुछ स्वरुप समझने में समर्थ हुए हैं। तदनंतर आपके अनादि अनन्त रूप के सदृश्य सर्व स्थानों में व्याप्त कर्म का विस्तारित रहस्य और कर्म शक्ति विदित होकर हम सब सावधानता को प्राप्त हुए है। हे कृपानिधे! अपरिहार्य और दुर्बोध कर्म के विभागों का वर्णन करके अब हम लोगों को कर्म बंधन से विमुक्ति का पथ प्रदर्शित कीजिए ॥४-९॥

सूर्य उवाच ॥१०॥

श्री सूर्यदेव ने कहा ॥१०॥

ऋषयस्सम्प्रवक्ष्यामि कर्मणा पञ्च भूमिकाः ।

उत्तरोत्तरमुत्कर्षाद्वित सोपानपंक्तिवत॥११॥

अब कर्म की पांच भूमिकाएं कहता हूँ, जो उतरोत्तर उत्कृष्ट होने के कारण सोपान परम्परा के समान है। ॥११॥

प्रथमा तांत्रिकी प्रोक्ता परा पौराणिकी मता।
स्मार्ता तृतीया तुर्या तु श्रोता संकीर्त्ता बुद्धै ॥१२॥

पंचमी त्वौनिषादी विबुधोत्तमसम्मता।
यस्याः परं न किञ्चितस्याद्वाच्यं ज्ञेयं च सत्तमाः ! ॥१३॥

पहली भूमि का तान्त्रिकी, दूसरी पौराणिकी, तीसरी स्मार्ता और पंडितों ने चौथी का नाम श्रौता कहा है तथा उत्तम विद्वानों के मत से पांचवी कर्म भूमि का नाम औपनिषदी है। और हे सज्जनों ! जिस अवस्था से परे न कुछ कहने योग्य है और न जानने ही योग्य है ॥१२-१३॥

स्वेच्छं कर्माणि कुर्वन्यः प्रमाणाश्रयण बिना।
तन्त्रोक्तानि करोत्ये कर्मी प्राथमिको मतः ॥१४॥

स्वेच्छा से किसी अन्य प्रमाण का आश्रय किए बिना जो तन्त्रोत कर्म करता है, वह प्राथमिक कर्मी है ॥१४॥

तानि तन्त्रोक्तकर्माणि त्यक्त्वा पौराणिकानि यः।
करोति तन्त्रसम्बन्धीत्यर्थ कर्मी द्वितीयकः॥१५॥

उन तंत्रोक्त कर्मों को छोड़कर जो तन्त्र सम्बन्धी पौराणिक कार्य करता है, वह द्वितीय कर्मी है ॥१५॥

त्यक्त्वा तान्यपि यः स्मार्तान्यनुतिष्ठति सर्वदा ।
श्रुतिसम्बन्धवन्त्येष तृतीयः कर्म्युदीर्त्ते ॥१६॥

उनको भी छोड़कर जो श्रुति सम्बन्धी स्मार्त कर्म करता है, वह तृतीय कर्मी है ॥१६॥

यश्च तान्यपि संत्यज्य श्रौतान्येवाचरत्ययम ।
कर्मी धर्मार्थकामानां स्थानं तुर्योऽभिधीयते ॥१७॥

और जो न उन स्मार्त कर्मों को भी छोड़ कर केवल श्रौत कर्मों का ही आचरण करता है, वह चतुर्थ कर्मी है और वही धर्म, अर्थ तथा काम का आश्रय कहा गया है ॥१७॥

श्रौतान्यपि च यस्त्यक्त्वा सदौनिषदानि वै ।
करोति श्रद्धया कर्माण्ययं मोशी तु पञ्चमः॥१८॥

श्रौत कर्मों को भी छोड़कर जो श्रद्धा पूर्वक केवल उपनिषदोक्त कर्म ही करता है, वह पञ्चम कर्मी है और वही मोक्ष का अधिकारी है। ॥१८॥

यान्यौपनिषदानां स्युविरोधीनि कर्माणम।
श्रौतादीनि सुसंग्राह्यान्यमलानि मुमुक्षभिः ॥१६॥

उपनिषद् सम्बन्धी कर्मों के जो अविरोधी श्रौतादि पवित्र कर्म हो, मुमुक्षुओं को उनका संग्रह करना चाहिये। ॥१६॥

कर्माण्युपनिषत्सु स्युर्ब्रह्मैकार्थासु वै कथम।

इत्याशक्य क कुर्वन् हि विधरस्ति जिजीविषेत ॥२०॥

केवल ब्रह्मप्रतिपादक उपनिषदों में कर्म का विधान कैसे हो सकता है, इस प्रकार के विचारों को लेकर कर्म करते हुए भी महात्मा जन शरीर धारण करते हैं, ऐसी भी विधि है ॥२०॥

ईशावास्यादिवेदान्तप्रोक्तान्यामरणादपि ।
कुर्वन्नेव विमुच्येत ब्रह्मवित्प्रवरोऽस्तु ॥२१॥

इसी प्रकार कोई ब्रह्मवित् प्रवर महात्मा ईशावास्यादि उपनिषदों के जगत को ही ब्रह्म को माननेवाले सिद्धान्तो का अनुसरण करते हुए अपने शरीरपात पर्यन्त कर्म करते हैं ॥२९॥

यतयस्त्यक्तगाहर्सस्थ्या अपि स्वोचितकर्मभिः।
आश्रम पालयन्तस्वं कैवल्यं प्राप्नुयुः परम ॥२२॥

तृतीयत: गृहस्थ आश्रम त्यागी सन्यासीगण भी अपने आश्रमोचित कर्मों का अनुमान अनुष्ठान करते हुए परम कैवल्य पद को प्राप्त कर सकते है ॥२२॥

कर्मप्रजाधनानां यस्त्यागसप्तमभिधीयते।
कामैकविषयत्वेन स यतेर्न विरुध्यते ॥२३॥

केवल काम मूलक होने से ही कर्म प्रजा और धनों का त्याग कहा गया है। अत: यति के जीवन के साथ ऐसे मार्ग का विरोध नही है ॥२३॥

संन्यासिनो हि कर्माणि नित्यानि विमलानि च।
श्रेयोऽर्थानि विधीयन्ते परिव्राजेऽब्जजन्मना ॥२४॥

परिव्राज अवस्था में संन्यासियों के पवित्र नित्य कर्म केवल कल्याण के लिए ब्रह्मा जी ने कहा हैं॥ २४ ॥

अपेतकाम्पकर्मणो यतयोन्येऽपि वा जना: ।
सद्य: क्रमेण वा मुक्तिमाप्नुयुर्नात्र संशय ॥२५॥

चाहे यति हो या कोई अन्य हो, जो निष्काम कर्म करते हों, वह उसी समय अथवा क्रमश: मुक्ति प्राप्त करते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं ॥२५॥

पञ्चमी भूमिमारूढ़: ज्ञाकर्मभि: ।
शोकमोहादि निर्मुक्त सर्वदेव विराजते ॥२६॥

ज्ञान, उपासना और कर्म के द्वारा जो पांचवीं भूमि में आरूढ़ हो गया है, वह सर्वदा शोक मोहादि से मुक्त होकर शोभायमान होता है ॥२६॥

न ज्ञानेन विनोपास्तिर्नोपास्त्या च विनेतरत।
कर्मापि तेन हेतुत्वं पूर्वपूर्वस्य कथ्येत ॥२७॥

ज्ञान के बिना उपासना नहीं हो सकती और उपासना के बिना कर्म भी नहीं होता है। अतः ज्ञान उपासना और उपासना कर्म की हेतु हैं ॥२७॥

श्रद्धा यावन्हि ज्ञानं ताव्नोपासनं मतम ।
यावन्नोपासनं तावन्न ज्ञानं च कथञ्चन ॥२८ ॥

अथवा जब तक ज्ञान नहीं, तब तक उपासना नही हो सकती और उपासना के बिना कदापि ज्ञान नहीं प्राप्त होता ॥२८॥

ज्ञानं यावन्न कर्मापि न तावन्मुख्यामीर्ष्ते ।
यावन्न कर्म तावच्च न ज्ञानं साधुसम्मतम ॥२९॥

जब तक ज्ञान नहीं है, तब तक कर्म की प्रधानता नहीं हो सकती और जब तक कर्म नहीं है, तब तक ज्ञान की प्रधानता साधुसम्मत नहीं है ॥२९॥

यावन्नोपासनं तावन्न कर्मापि प्रशस्ते।
यावन्न कर्मोपास्तिश्च न तावत्सात्विकी मता ॥३०॥

जब तक उपासना नहीं है, तब तक कर्म की प्रधानता नहीं है और जब तक कर्म नहीं, तब तक उपासना सात्विक नही कही जा सकती ॥३०॥

ज्ञानोपासनकर्माणि सापेक्षाणि परस्परम।
प्रयच्छन्ति परां मुक्ति नान्यथेन्युक्तमेव व: ॥३१॥

यह मैं आप लोगों को पहले ही कह चूका हूँ कि ज्ञान, उपासना और कर्म परस्पर सापेक्ष हैं और यह ही मुक्ति को प्रदान करते हैं अन्यथा मुक्ति नहीं होती ॥३१॥

एतेषु साधनेष्वेकं त्रिषु यत्किञ्चिदत्र य:
त्यजेदसद्गुरूकत्या स नाश्नुवीत परामृतम॥३२॥

इन तीनो में से किसी एक को भी असद्गुरु के उपदेश से यदि कोई छोड़ दे, तो वह परम मुक्ति की दक्षा को प्राप्त नहीं कर सकता।॥३२॥

नानाविधानि ज्ञानानि नानारूया उपास्तय:।
नानाविधानि कर्माणि श्रुत्यन्तादिषु संविदु: ॥३३॥

श्रुति आदि ग्रंथों में अनेक प्रकार ने ज्ञान, अनेक प्रकार की उपासनायें और अनेक प्रकार के कर्मों का उल्लेख है ॥३३॥

सम्बन्धस्तु त्रयाणां स्यातुचितश्शिष्टवर्त्मना।
निपुणैश्च सुविज्ञेयमनुबन्ध चतुष्टयम ॥३४॥

इन तीनों का उचित सम्बन्ध शिष्ट सम्मत मार्ग से जानना चाहिये और विद्वानों के द्वारा इनका अनुबंध चतुष्टय भी जानना चाहिये ॥३४॥

अनुबन्धाविरोधेन त्रयाणां चेत्समुच्च्यः।
कृतस्स सद्यः प्राप्नोति तृप्ति मानवपुंगव: ॥३५॥

अनुबन्ध चतुष्टय के अविरोध से जिसने तीनो का समुच्चय किया है, वह नरश्रेष्ठ उसी समय शांति प्राप्त करता है। ॥३५॥

अनुबन्धपरिज्ञानं बिना मुकत्यै प्रयत्नवान।
न मुक्ति विन्दते कोऽपि साधकादिविपर्ययात ॥३६॥

अनुबन्ध ज्ञान के बिना जो मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है, वह अधिकार और अधिकारि विपर्यय होने से मुक्ति नहीं प्राप्त कर पाता ॥३६॥

भोगाधिकारी मोक्षं चेत्फलमिच्छेत्कदाचन।
अनुबन्धस्य विज्ञानं कथन्नु स्यात्समञ्जसम ॥३७॥

यदि कोई भोगाधिकारी मोक्ष की इच्छा करे, तो अनुबन्ध चतुष्टय का ज्ञान ठीक ठीक कैसे होगा ? ॥३७॥

अधिकारानुगुण्येन सम्बन्धः परिकीर्तितः ।
तत्सम्बन्धानुगुण्येन विषयश्च प्रकीर्तित: ॥३८॥

उसका सिद्धांत यह है कि अधिकार के अनुसार सम्बन्ध कहा गया है और उस अधिकार के अनुसार सम्बन्ध कहा गया है और इन सबके अनुसार विषय होता है।॥ ३८॥

विषयानुगुणं प्रोक्तं प्रयोजनमतों बुधै:।
अनुबन्धास्मुविज्ञेया ज्ञानोपासन कर्मसु ॥३९॥

और विद्वानों ने विषय के अनुसार प्रयोजन माना है। ज्ञान, उपासना और कर्म इन सबके यही पूर्व कथित चार अनुबन्ध जानने चाहिए ॥३९॥

वर्णाश्रमाणा सर्वेषामनुष्ठेयेषु कर्मसु ।
अविद्वान् संशयात्मा चेद्नुवर्तते पूर्वकान ॥४०॥

समस्त वर्ण और आश्रमों में आचरण करने योग्य कर्मों के सम्बन्ध में यदि किसी अज्ञानी को सन्देह उत्पन हो, तो परम्परा से जैसा वह कर्म होता आया हो, वैसा उसको करना चाहिए ॥४०॥

विद्धांश्रेचत्संशयात्माभूच्छस्त्रे स्वमतिनिश्चितम् ।
आचरेत्तु न शिष्टस्याप्यबुध्यस्य पितुर्मतम ॥४१॥

और विद्वान् को यदि उक्त कर्मों में किसी प्रकार का संदेह उत्पन्न हो, तो उसको उचित है कि, शास्त्र द्वारा अपने विचार को निश्चय करके उस कर्म का आचरण करे परन्तु ऐसे अवसर में पूज्य पिता यदि अविद्वान हों, तो उनका भी मत स्वीकार नहीं करना चाहिये। ॥४१॥

पूर्वाचारानुसरणं कर्ममात्रे नियम्यते।
ज्ञानोपास्त्योस्त्वबाह्यत्वादन्यथाऽपि चयुज्यते ॥४२॥

कुलाचार का अनुसरण करके केवल कर्म के विषय में ही योग्य है। अंत: राज्य के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञान औत उपासना के विषय में अन्यथा चरण भी हो सकता है। ॥४२॥

स्वकुलस्थबुधाचारस्साधुसंविदितो यदि ।
विद्वानपि त्यजेत्स्वीयं तद्धिरुद्धमसम्मतम ॥४३॥

अतः अपने कुल के विद्वानों का आचार उसके विरुद्ध और असाधुम्मत होने पर छोड़ देना चाहिए ॥४३॥

पूर्वकेष्वपि साह्ययेषु स्वम्न युज्येत योगिता ।
अन्यथाऽपि च नैतेन प्रत्यवायः कियिानापि ॥४४॥

कुल परम्परा के ज्ञान और उपासना अपने ज्ञान और उपासना से मिलाए जा सकते हैं और अन्यथा भी हो, तो कोई प्रत्यवाय नहीं है।॥४४॥

यदि पूर्णविरोधेन कुर्यात्कर्मणि मानव: ।
स मूर्खो भवति क्षिप्रं प्रत्यवायी न संशयः॥४५॥

परन्तु लाकुल परम्परा चरित कर्मों के विरुद्ध यदि मनुष्य कर्माचरण करे, निःसन्देह वह मूर्ख शीघ्र प्रत्यवायी होता है ॥४५॥

नैमित्तिकानामकृतौ काम्यानां च न कश्चन ।
प्रत्यवापोऽत्र वाऽमुत्र लोके भवितुमर्हती ॥४६॥

नैमित्तिक और काम्य कर्मों को न करने से इहलोक और परलोक में किसी प्रकार का प्रत्वाय नहीं हो सकता ॥४६॥

नित्यानान्त्वकृतावत्रामुत्र वा प्रत्यवाय भाक
भवेदवश्यकार्यत्वादाश्रमुच्यतिहेतवे ॥४७॥

परन्तु नित्य कर्मा को त्याग देने से इहलोक और परलोक दोनों में प्रत्यवाय होगा क्योंकि नित्य कर्म अवश्य कर्तव्य हैं और उनके न करने से अपने अपने आश्रम से च्युति होती है। ॥४७॥

अज्ञानाद्विहिते लुप्ते ज्ञानाद्वा कर्मणि स्वके।
प्रायश्चित्ती भवेन्मर्त्यो यों लभेददुर्जन्म वा पुनः ॥४८॥

अज्ञान से अथवा ज्ञान से अपने विहित कर्म का यदि लोप करे, तो वह मनुष्य प्रायश्चित्ती होगा अथवा उसे अन्य जन्म में नीच योनि प्राप्त होगी। ॥४८॥

बुद्धिपूर्व त्यजन्नित्यमनुतापविवर्जित:
अनाश्रमी नरो घोरं रौरवं नरकं व्रजेत ॥४९॥

बुद्धिपूर्वक पश्चात्तापरहित होकर यदि कोई नित्यकर्म का त्याग करे, तो वह अनाश्रमी पुरुष और रौरव नरक में गिरता है। ॥४९॥

जीवन्मुक्तस नित्येषु यदि लुप्तानि कानिचित।
न तेन प्रत्यवायोऽस्ति कश्चित्स्वाश्रमसिद्धित: ॥५०॥

जीवन्मुक्त के नित्यकर्मों से यदि कोई लोप हो जाए तो अपने उस आश्रम की सिद्धि हो जाने से उसे किसी प्रकार का प्रत्यवाय नहीं होता ॥५०॥

प्रायश्चित्तनिवार्त्यानि निषिद्धाचरणानि च ।
प्रायश्चित्तमकुर्वन्तमपि लिम्पनिल नैव तम् ॥५१॥

प्रायश्चित से निवृत्त होने वाले निषिद्ध भरण का यदि जीवन्मुक्त महापुरुष प्रायश्चित करे, तो उनको भी दोष नहीं लगता। ॥५१॥

कर्मे शुद्धमशुद्धं च द्विविध प्रोच्यते श्रुतौ।
तनाशुद्धेन बन्यस्यान्मोक्षरशुद्धेन देहिनाम ॥५२॥

शुद्ध और अशुद्ध इस प्रकार से कर्म दो प्रकार के वेदों में कहे गये हैं। उनमें से अशुद्ध कर्मों द्वारा मनुष्य को बन्ध और शुद्रकर्मों द्वारा मोक्ष होता है। ॥५२॥

शुद्धं च तथा प्रोक्तं पुण्यं पापमिति द्विधा।
परस्परं न बाधोऽस्ति तयोरत्राविरोधत: ॥५३॥

अशुद्ध कर्म पुण्य पाप रूप से द्विविध होते हैं। उनका अविरोध होने से वह परस्पर में बाधक नहीं होते अर्थात् पुण्य से पाप का और पाप से पुन्य का नाश नहीं होता। ॥५३॥

सुखदुःखे समस्तस्य जन्तोर्याभ्यां प्रसिध्यत।
तयोर्न वशमागच्छेच्छुद्ध मात्रेण संस्थितः ॥५४॥

उन्हीं दोनों से प्राणिमात्र के सुख दुःख उन्त्पन्न होते हैं, इसलिए उनके वशीभूत न होकर शुद्ध कर्माचरण में ही रत रहना चाहिये। ॥५४॥

शुद्धं नित्यमनन्तं यत्सत्यं कर्म निगद्यते।
नित्यशुद्धविमुक्तात्मसाक्षात्कारार्थकं विदु: ॥५५॥

शुद्धकर्म नित्य, अनन्त और सत्य हैं तथा वह नित्य, शुद्ध और विमुक्त आत्मा का साक्षात्कार कराने वाले कहे गये है। ॥५५॥

विशुद्धै: कर्मभिशुद्धानीन्द्रियाणिभवन्तयलम।
इन्द्रियेषु विशुद्धेषु मन्शुद्धं स्वतो भवेत ॥५६॥

शुद्धे मनासि जीवोऽपि विशुद्धो ब्राह्मणैकताम।

उपेत्य केवलानन्दं निष्कलं परमश्नुते ॥५७॥

विशुद्ध कर्मो से इन्द्रियाँ शुद्ध होती है और इन्द्रियों के शुद्ध होने से मन स्वयं शुद्ध हो जाता है! मन शुद्ध होने से जीव विशुद्ध होकर और ब्रह्म के साथ एकता प्राप्त कर निष्कल और परम केवल आनन्द को प्राप्त करता है ॥५६-५७ ॥

बाह्यमाभ्यन्तरञ्चेति शुद्धं कर्म द्विधोच्यते।
बाह्यं स्नानादि नित्यंस्याद्ध्यानाद्याभ्यंतरं परम् ॥५८॥

शुद्धकर्म भी बाह्य और आभ्यन्तर इस प्रकार से द्विविध है। बाह्य कर्म स्नानादि और आभ्यंतर कर्म ध्यानादि हैं। ॥५८॥

अतश्शुद्धैरशुद्धानां नाशो भवितुमर्हति ।
न शुद्धच्यतिरेकेण प्रत्नान्तरभिष्ते ॥५९॥

इस प्रकार शुद्ध कर्माचरण से शुद्धि प्राप्त होने पर अशुद्ध कर्मों का नाश हो जाता है। शुद्ध कर्मों के सिवाय अशुद्ध कर्मों का नाश करने के लिये और कोई उपाय नहीं है। ॥५९॥

विशुद्धकर्मनिष्ठास्ते यतयोऽन्येऽपि वा जनाः।
अत्रैव परिमुच्यन्ते स्वातंत्रयेण परामृतात ॥६०॥

विशुद्ध कर्म करनेवाले संन्यासी अथवा इतर मनुष्य कैवल्य प्राप्त कर स्वतन्त्रता से इहलोक में ही मुक्त हो जाते हैं। ॥६०॥

आरूढः पञ्चमी भूमि शुद्धेनैवावतिष्ठते।

अतोऽत्र मतिमानित्यं पञ्चम्यभ्यासमाचरेत ॥६१॥

शुद्ध कर्मों के अनुष्ठान से साधक पूर्वकथित पांचवीं भूमि में आरूढ़ होकर रहता है, इसलिये बुद्धिमान् पुरुष को पांचवीं भूमि का अभ्यास करना चाहिये। ॥६१॥

इन्द्रियाणि विशुद्धान्यप्यशुद्धानां विवर्जनात
शुद्धानामप्यनुष्ठानाद्वीमांस्तानि न विश्वसेत ॥६२॥

अशुद्ध कर्म के त्याग और शुद्ध कर्म के अनुष्ठान से इन्द्रियों के विशुद्ध होने पर भी उन पर विश्वास नहीं करना चाहिए क्योंकि पूर्ववासना से वह पुनः अशुद्ध कर्मों की ओर झुक सकती हैं। ॥६२॥

अशुद्धेपु प्रवृतेरन् पूर्ववासनया स्वत:।
तेभ्यो नियम्य शुद्धेषु नित्यं तानि प्रवतयेत् ॥६३॥

इन्द्रियाणाञ्च मनसः प्रसादं शुद्धकर्मभिः।
उपलभयापि दुर्बुद्धिरशुद्धे हा प्रवर्तते ॥६४॥

इसलिये उनको अशुद्ध कर्मों से रोककर सदा शुद्ध कर्मों की ओर प्रवृत रहना चाहिये। शुद्ध कर्मों से इन्द्रियों और मन को प्रसन्नता प्राप्त होने पर भी दुर्बुद्धि मनुष्य अशुद्ध कर्मों में ही प्रवृत होता है, यह बड़े खेद का विषय है ॥६३-६४॥

प्रसनमनसस्स्वास्थ्यात्सुखं किंचितत्प्रजायते।
तावन्मात्रेण तृप्तस्तु क्रमेणाध: प्तेन्नरः ॥६५॥

प्रसन्न मन के स्वस्थ रहने से कुछ सुख होता है। परन्तु उतने ही सुख से जो मनुष्य तृप्त हो जाता है। वह पुनः क्रमशः अधोगति को पहुँचता है। ॥६५॥

तृप्तिरल्यमुखप्राप्तौ महानथैककारणम् ।
अतस्तृप्तिमनाप्यैव शुद्ध नित्यं समाचरेत ॥६६॥

अल्पसुख प्राप्त होने पर तृप्ति लाभ करना महान् अनर्थ का कारण है। इसलिये तृप्त न होकर ही सर्वदा शुद्ध कर्माचरण करते रहना चाहिये। ॥६६॥

यथा विषयभोगेषु बिना तृप्तिं पुन: पुन:।
प्रवर्तते तथा नित्यं यदेशशुद्धेषु ॥६७॥

जिस प्रकार मनुष्य विषयभोग में तृप्ति न पाकर पुन: पुन: प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार जो नित्यप्रति शुद्ध कर्माचरण करता है, वही बुद्धिमान् है। ॥६७॥

शुद्धं शुद्धेन वर्द्धेत शुद्धशुद्ध ततो व्रजेत ।
अशुद्धमप्यशुद्धेनाशुद्धोऽशुद्धं तथा नर: ॥६८॥

मनुष्य को चाहिये कि, शुद्ध से शुद्ध की वृद्धि करे और शुद्ध होकर शुद्ध को प्राप्त करे अथवा अशुद्ध से अशुद्ध को बढ़ाए और अशुद्ध को अर्थात् अवागमन को अशुद्ध होकर प्राप्त करे। ॥६८॥

यदेन्द्रियमन: प्राणाः शान्तास्सुप्ताविवाभवन।
शुद्धाशुद्धोभयातीतसदा तृप्ति परा व्रजेत ॥६९॥

जब इन्द्रिय मन और प्राण सुषुप्ति अवस्था की तरह शांत हो जाएं, तब शुद्ध और अशुद्ध दोनों अवस्थाओं से अतीत होकर मनुष्य परम तृप्ति का लाभ करेगा। ॥६९॥

यावनेन्द्रियसंशान्तिर्यावन्न मनोसोऽपयः।
यावन्न न प्राणशांन्तिश्च तावच्छुद्ध समाचरेत् ॥७०॥

जब तक इन्द्रियों की अच्छी तरह शान्ति और मनोनाश एवं प्राण की शान्ति न हो जाए तब तक शुद्धकर्म करता रहे। ॥७०॥

परस्परोपयोगित्वाद्वाह्याभ्न्तरशुद्ध्यो: ।
वियोगो नैव कार्योऽन बुधैरादेहमोचनात् ॥७१॥

जब तक शरीर है, तब तक विद्वजन्न बाह्य और आभ्यन्तर शुद्ध कर्मों का वियोग न करे क्योंकि दोनों परस्पर उपयोगी हैं ॥७१॥

शुद्धपक्षद्वयोर्ह्स उधर्व गच्छति चाम्बरे।
अशुद्धपक्षः श्येनस्तु व्योमगोंऽपि पत्यध: ॥७२॥

बाह्य और अभ्यन्तर रूप से दोनों शुद्ध कर्मों को करनेवाला मनुष्य आकाश में उड़ने वाले की तरह ऊपर को अर्थात उधर्व गति को ही जाता है। पुण्य पापात्मक दो प्रकार के अशुद्ध कर्मों को करने वाला मनुष्य आकाश में उड़ने वाले श्येन (बाज) की तरह नीचे ही गिरता है अर्थात वह स्वर्ग जाकर भी पुनः अधोगति को प्राप्त होता रहता है। ॥७२॥

छिन्नैकपक्षो हंसोपि नोर्ध्व गन्तुमितोऽर्हति।
अतश्शुद्धद्वयं मुख्यं साधनं मुक्ते विदुः ॥७३॥

यदि हंस का भी एक पक्ष छिन्न हो जाए, तो वह अपर नहीं उड़ सकता है इसलिये, मुक्ति के लिये दोनों प्रकारके शुद्ध कर्मों का आचरण करना मुख्य साधन माना गया है॥७३॥

यद्यप्याभ्यन्तरं शुद्धं बाह्यशुद्धनिवर्तकम।
भवत्येतेन साम्यन्न तयोरिति च केचन ॥७४॥

तथापि बाह्यविलयसमकालयात्परम् ।
आभ्यन्तरं समं तेन बाह्येन स्यात्स्वकर्मणा ॥७५॥

यद्यपि आभ्यन्तर शुद्ध कर्म बाह्य शुद्ध कर्मों का निवर्तक है, अतः दोनों की साम्यता करना वृथा है, कुछ ऐसा कहते हैं, तथापि बाह्य कर्मों का विलय होने की समकालीन अवस्था के पश्चात् अपने बाह्य और आभ्यन्तरिक कर्म समान हो जाते हैं। ॥७४-७५॥

आभ्यन्तरञ्च तच्छुद्ध कर्म द्विविधमुच्यते।
सम्प्रज्ञातसमाध्याख्यसम्प्रज्ञातनाम च ॥७६॥

आभ्यन्तर शुद्ध कर्म भी दो प्रकार के होते हैं। एक सम्प्रज्ञात समाधिरूप और द्वितीय असमप्रज्ञात समाधिरूप। ॥७६॥

जीवन्मुक्ते पुरा वृत्तमाद्यं कर्म स्वमानसम।
पुरा विदेहमुक्तेस्तु वृत्तमन्यत्स्वमानसम् ॥७७॥

जीवन्मुक्ति के पहले जो अपना मानसिक वृत्त है, वह प्रथम अर्थात सम्प्रज्ञात नामक है और विदेहमुक्ति के पहले जो अपना मानसिक वृत्त है, वह द्वितीय अर्थात् असम्प्रज्ञात नामक है ॥७७॥

मानसत्वात्समाधेश्च कर्मत्वोक्तिर्न दूष्यते ।
अनन्यविषयत्वाच तत्फलं नैव नश्वरम् ॥७८॥

समाधि का मन से सम्बन्ध होने से उसे कर्म कहने में दोष नहीं है। उसका विषय अनन्य एकमात्र ब्रह्म होने से उसका फल भी नश्वर नहीं है। ॥७८॥

अन्तशुद्धिबहिश्शुद्धि यथा नृणामपेक्षते
बहिश्शुद्धिस्तथैवान्यः शुद्धि च नियमेन हि ॥७९॥

मनुष्यों के लिए अन्तःशुद्धि के साथ जैसी बाह्य शद्धि की अपेक्षा रहती है, वैसी बाह्य शुद्धि के साथ नियमपूर्वक अन्तशुद्धि की भी अपेक्षा रहती है ॥७९॥

प्रारब्धकर्मणा जन्तो: शरीरं जायते क्षितौ।
तस्यापि त्रिविधा प्रोक्ता गतिस्तव मनीषिभि: ॥८०॥

प्रारब्ध कर्म से प्राणिमात्र को भूलोक में शरीर प्राप्त होता है। मनीषी गण के मतानुसार उसकी त्रिविध गति होती है। ॥८०॥

प्रथमा मानसी वृतिः सासंकल्पविकल्पिका ।
द्वितीया जीवप्रकृतिं जनयत्यनिशं भुवि ॥८१॥

पहली मानसी वृत्ति जो संकल्प विकल्प आत्मक कही गयी है। दूसरी, निरन्तर जीव प्रकृति को उत्पन्न करती है। ॥८१॥

गत्या तृतीययोत्पन्ना भोगायुर्जात: किल।
नियतं कर्म कुरुत कर्मज्यायो ह्यकर्मण: ॥८२॥

और तृतीय गति से भोग, आयु और जाति उत्पन्न होती है। तुम नियमित रूप से कर्म करो क्योंकि अकर्म से कर्म श्रेष्ठ है। ॥८२॥

शरीरयात्रपि च वो न प्रसिध्येदकर्मणाम्।
मत्कर्मकृत्मत्परमो मद्भक्त संग्वार्जित: ॥८३॥

मदर्थमपि कर्मणि कुर्व्वन सिद्धिमवाप्स्ति ।
कर्मण्यकर्म य: पश्येदकोणि च कर्म य:।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्त: कृत्स्नकर्मकृत ॥८४॥

अकर्म से तो तुम्हारी शरीरयात्रा भी नहीं हो सकती। मेरे सम्बन्धी कर्म करने वाला मुझमें रत और मेरा भक्त बनकर सङ्ग छोड़कर यदि मेरे लिए ही कर्म करे, तो सिद्धि प्राप्त करेगा। कर्म में जो अकर्म और अकर्म में कर्म देखे, वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है और वहीं योगी और यथार्थ कर्मी है ॥८३-८४॥

इति श्रीमूर्यगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे सूर्यऋषि सम्वादे कर्मविभाग निरूपणं नाम चतुर्थोऽध्याय:।

इस प्रकार श्रीसूर्यगीतोपनिषद् के ब्रहाविद्या सम्बन्धी सूर्य ऋषि संवादात्मक पञ्चोपासना का कर्मविभाग निरूपण नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ।

॥ॐ सवित्रे नमः ॥

॥श्री सूर्य गीता ॥

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

सृष्टिक्रम आत्मस्वरूप वर्णनं : सृष्टिक्रम और आत्मस्वरूप वर्णन

ऋषय ऊचुः ॥१॥

महर्षियों ने कहा ॥१॥

भगवन् ! कृतकृत्याः स्मो ज्ञात्वा सम्यगनुत्तमम।
रहस्यमाधिदैवस्य कर्मणश्च तथैव हि ॥२॥

सर्गक्रमस्थ चेदानीं प्रकारं ज्ञापन विभो।
आत्मनोऽचिन्त्यरूपयस्य ज्ञानं किञ्चिन्निरूपय ॥३॥

हे भगवन् ! अत्युत्तम अधिदैव रहस्य और कर्म रहस्य को भलीभांति जानकर हम कृतकृत्य हुए हैं। अब हे विभो! सृष्टिक्रम के प्रकार को कहते हुए अपने अचिन्त्य रूप के ज्ञान का कुछ निरूपण कीजिए ॥२-३॥

सूर्य उवाच

श्री सूर्यदेव बोले ॥४॥

सृष्टिश्चाऽत्र त्रिधा प्रोक्ताऽऽधिभौतिकयाधिदैविकी।
आध्यात्मिकीति तत्राद्या पिण्डसम्बनधमुश्नुते ॥५॥

सृष्टि त्रिविध है। यथा: आधिभौतिकी, अधिदैविकी और आध्यात्मिकी। इनमें से पहली पिण्ड सम्बन्धी है ॥५॥

द्वितीयाऽपि च ब्रह्माण्डसम्बधाऽऽध्यात्मिकी तथा।
विराट् सम्बन्धितां याति तनाऽऽद्ये सादिसान्तिके ॥६॥

अन्त्या त्वनाद्यनन्ताऽरित संख्यातीताविमौ स्मृतो।
ब्रह्माण्डपिण्डौ विस्तार विराजसत्ववर्धिन हि ॥७॥

दूसरी ब्रह्माण्ड सम्वन्धी और तीसरी विराट सम्बन्धी है। आधिदैविकी और अधिभौतिकी सृष्टि में आदि अन्त दोनों हैं, आध्यात्मिकी सृष्टि का आदि अन्त नहीं है, अत: पिण्ड और ब्राह्माण्ड दोनों संख्या से अनन्त है एवम विराट के विस्तार से अनन्त होने के कारण उसकी अवधि नहीं है ॥६-७॥

अहं हि क्षोभको विज्ञाः क्षोभ्यश्च पुरुषोत्तमः।
सङ्कोचेन विकाशेन प्रधानत्वेऽपि च स्थितः ॥८॥

हे विज्ञों! सष्टि में मैं पुरुषोत्तम ही संकोच और विकास के द्वारा क्षोभ्य और क्षोभक हूँ एवं मैं ही प्रधान रूप से स्थित हूँ। ॥८॥

विकाराणुस्वरुपैश्च ब्रह्मरूपादिभिस्तथा।
व्यक्तस्वरुपश्च तथा चाऽमं सवेश्वरेश्वरः ॥९॥

आकाशादि पञ्चभूत और ब्रह्मादि जीवों के रूप से मैं ही व्यक्त स्वरूप हूँ तथा सब ईश्वरों का भी ईश्वर हूँ। ॥९॥

गुणासाम्यत तत्सतस्मात क्षेत्रज्ञाधिष्ठितात्ताथा।
गुणव्यञ्जनसम्भूतिः सर्गकाले द्विजोत्तमा: ॥१०॥

प्रधानतत्त्वमुद्भुतं महान्तं तत समावृणोत।
सात्विको राजसश्चैव तामसश्च त्रिधा महान् ॥११॥

सर्वप्रथम सृष्टि के समय पुरुष द्वारा अधिष्ठित उसी गुणसाम्य से गुण व्यञ्जन अर्थात् महतत्व उत्पन्न हुआ। महत्तत्व त्रिविध है – सात्विक, राजसिक और तामसिक। ॥१०-११॥

प्रधानतत्वेनसंमत्वचा बीजमिवावृतम्।
वैकारिकस्तैसश्च भूतादिश्चैव तामस: ॥१२॥

त्रिविधोऽयमहङ्कारो महत्तत्त्वादजायत ।
भूतेन्द्रियाणां हेतुः स त्रिगुणत्वान्महर्षयः ॥१३॥

बीज जिसप्रकार त्वचा द्वारा आवृत रहता है, उसी प्रकार पूर्वोक्त गुणसाम्य ने इस महत्तत्व को आवृत्त किया अर्थात प्रधान तत्व महतत्व में व्यापक होकर स्थित हुआ। महतत्व से वैकारिक अर्थात सात्विक, तैजस अर्थात् राजस और भूतादि अर्थात तामस, इस त्रिविध अहंकार तत्व की उत्पत्ति हुई। हे महर्षियों! अहंकार त्रिगुनणात्मक है। अतः पञ्चभूत और इन्द्रियों की उत्पत्ति का कारण है ॥१२-१३॥

यथा प्रधानेन महान महता स तथा वृत: ।

भूतादिस्त विकुर्वाण: शब्दन्नमात्रिकं ततः ॥१४॥

ससर्ज शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दलक्षणम् ।
शब्दमात्र तथाकाशं भूतादि: स समावृणेत ॥१५॥

जिस प्रकार प्रधान तत्व द्वारा महतत्व आवृत है। तामस अहंकार तत्व भी उसी प्रकार आवृत है। तामस अहंकार तत्व ने क्षुभित अर्थात कार्योन्मुख होकर शब्दतन्मात्र और शब्दतन्मात्र से शब्दगुण विशिष्ट आकाश की सृष्टि की और दोनों को आवृत कर लिया । ॥१४-१५॥

आकाशस्तु विकुर्व्वाण: स्पर्शमात्रं स्सर्ज्ज ह ।
बलवानभवद्वा युस्तस्य स्पर्शो गुणों मत: ॥१६॥

आकाशं शब्दमात्रन्तु स्पर्शमात्रं समावृणोत ।
ततो वायुर्व्विकुर्वाण रूपमात्रं स्सर्ज्ज ह ॥१७॥

ज्योतिरुत्पद्यते वास्तद्रूपगुणमुच्यते।
स्पर्शमात्रन्तु वै वायुरूपमात्रं समावृणोत ॥१८॥

आकाश ने क्षुभित होकर स्पर्श तन्मात्र की सृष्टि की। उसके द्वारा स्पर्शगुण विशिष्ट बलवान् वायु उत्पन्न हुआ और आकाश ने वायु को आवृत कर लिया। तदन्तर वायु के क्षुभित होने से रूपमात्र और ज्योति उत्पन हुई। ज्योति का गुण रूप है। ज्योति वायु के द्वारा आवृत हुई। ॥१६-१८॥

ज्योतिश्चापि विकुर्व्वाण: रसमात्रं स्सर्ज्ज ह।
संभवन्ति ततोऽम्भांसि रसाधाराणि तानि च ॥१९॥

रसमात्राणि चाम्भांसि रूपमात्रं समावृणोत।
विकुर्व्वाणानि चाम्भांसि गंधमात्रं ससर्ज्जिरे ॥२०॥

संघातो जायते तस्मात् तस्य गन्धो गुणो मतः ।
तस्मिंस्तस्मिस्तु तन्मात्रा तेन तन्मात्रता स्मृता ॥२१॥

ज्योति के क्षुभित होने से रसतन्मात्रा उत्पन्न हुई, उससे रसगुण विशिष्ट जल का जन्म हुआ। वह ज्योति के द्वारा आवृत है। जल ने क्षुभित होकर गन्धतन्मात्रा की सृष्टि की। उससे पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। उसका गुण गन्ध है। तत्तद्वस्तु में तन्मात्रा है, इसी से उन्हें तन्मात्रा कहते हैं ॥१९-२१॥

कर्मैव कारणं सृष्टेस्तस्य भेदास्त्रिधा मता:।
प्राधान्यात्सहजं जैवमैशञ्चेति विभागश: ॥२२॥

कर्म ही सृष्टि का कारण है। उसके प्रधानत: सहज, जैव और ऐश यह तीन भेद हैं। ॥२२॥

स्थावर जङ्गमं तेन धार्यते ह्यखिलं जगत
तत्राऽस्ति जैवं पिण्डेषु ब्रमाण्डे सहजं मतम् ॥२३॥

ऐशं ममावतारेष्विवत्यूह्यतां मुनिपुंगव:।
किन्तु ये हि मनुष्याणामार्य्यास्तेषां विशेषत: ॥२४॥

और उसी ने स्थावर जन्गात्मक अखिल जगत को धारण कर रखा है। उन त्रिविध कर्मों से हे मुनिपुङ्गवों! पिण्ड में जैव, ब्रह्माण्ड में सहज

और मेरे अवतारों में ऐश कर्म विद्यमान है, ऐसा जानो। किन्तु मनुष्यों में जो आर्य हैं, ॥२३-२४॥

निःश्रेयसायाऽभीष्टाय परमाऽभ्युदयाय च ।
कर्म्मोपास्तिस्तथा ज्ञानमेतत्कर्म्मत्रयं सदा ॥२५॥

भावत्रयसमाजुष्टं परं हितकरं मतद।
कर्मोपासनबोधेषु ब्रह्मविष्णुशिवा: क्रमात ॥२६॥

विशेषतः उनके अभीष्ट नि:श्रेयस और परम अभ्युदय केलिये भावत्रय युक्त कर्म, उपासना और ज्ञान रुपी तीनो कर्म सदा परम हितकर है। कर्म, उपासना और ज्ञान क्रमश: ब्रह्मा, विष्णु और शिव प्रसिद्ध है ॥२५-२६॥

प्रसिद्धा इति सन्त्यज्य धियं शृणुत मे वचः ।
त्रिषु त्रय: प्रसिद्धास्युस्तारत्म्येन चारुणा ॥२७॥

काम्यकर्मप्रधानोऽस्ति स्वयमभूश्चतुरानन:।
नैमित्तिकप्रधानस्तु विष्णु कमललोचनः ॥२८॥

इस विचार को छोड़कर मैं जो कहता हूँ, वह सुनो। उत्कृष्ट तारतम्य से तीनों में तीन प्रसिद्ध हैं काम्य कर्म में चतुर्मुख ब्रह्मा प्रधान है। नैमितिक कर्मों में कमललोचन विष्णुप्रधान हैं ॥२७-२८॥

नित्यकर्मप्रधानस्य शिवस्साक्षास्त्रिलोचनः ।
मृत्युपास्तौ विधिर्मुख्यस्तवंशोपास्तौ हरिर्मत: ॥२९॥

निरंशोपासने मुख्यो नीलकण्ठो हरो मत:।
ज्ञाने श्रवणजे ब्रह्मा विज्ञाने मननोदिते ॥३०॥

विष्णूस्य सम्यगज्ञाने तु निदिध्यासनजे शिव:।
अहमेवेह प्रत्येके ब्रह्माण्डेऽतीतसंख्यके ॥३१॥

ब्रह्माविष्णुमहेशानां स्वरूपेण खमायया।
सर्गस्थितिलयान्कुर्व्वे तत्र तत्र विभागश: ॥३२॥

और नित्यकर्म में साक्षात त्र्यम्बक शिवजी प्रधान हैं। मूर्ती की उपासना में ब्रह्मा, अंश की उपासना में श्री विष्णु और निरंश अर्थात ब्रह्म उपासना में नीलकंठ शिवजी मुख्य हैं। श्रवण सम्बन्धी ज्ञान में ब्रह्मा, मनन सम्बन्धी ज्ञान में विष्णु और निदिध्यासन सम्बन्धी सम्यक ज्ञान में शिवजी प्रधान हैं। मैं ही अनंत ब्रह्मांडो में से प्रत्येक ब्रह्माण्ड में अपनी माया से ब्रह्मा विष्णु और शिव के रूप से विभागशः सृष्टि, स्थिति और लय की क्रिया करता हूँ ॥२९-३२॥

ब्रह्मविष्णुशिवा मत्तो जायन्ते तेऽमिता इह ।
अहमेवाष्टवसन अदित्या द्वादश स्मृता: ॥३३॥

रुद्रा एकादश ख्याता मधवा च प्रजापति:।
इमे देवात्रयस्त्रिंशत्प्रख्याता शास्त्रविस्तरे ॥३४॥

अहमेवर्षयो देवा पितरश्च तथा स्मृता:
एभीरूपैश्च बहुर्ब्रह्माण्डादि च पालये ॥३५॥

अनन्त ब्रह्मा, विष्णु और शिव मुझ से ही उत्पन्न होते हैं। आठ वसु, बारह आदित्य, एकादश रूद्र, इंद्र, प्रजापति, इस प्रकार शास्त्रों में कहें गए तैतीस प्रकार के देवता एवं ऋषि, देवता, पितृगण सब मैं ही हूँ। मैं ही इन रूपों में ब्रह्माण्ड का पालन किया करता हूँ। ॥३३ - ३५॥

ममैवोपासना विप्रा: ! सकलानामुपासना।
ममैवाराधने सर्वे देवा आयान्ति तुष्टाम ॥३६॥

यथा नद्योऽमितास्तास्तास्समूद्र यान्ति वै तथा।
सर्वदेवनमस्कारो मानेवैति न संशयः ॥३७॥

हे विप्रों! मेरी ही उपासना सबकी उपासना है। मेरी ही आराधना करने से समस्त देवता संतुष्ट होते हैं। जिस प्रकार समस्त नदियाँ समुद्र में जा मिलती हैं, उसी प्रकार समस्त देवताओं को किया हुआ नमस्कार निःसन्देह मेरे पास पहुँचता है ॥३३-३७॥

अचिन्तनीयम्व्यक्त्मवांगमनसगोचरम् ।
तत्त्वातीतं निर्विकारं चिन्मेयं सृष्टितः परम् ॥३८॥

श्रद्धां विना ममेद हि रूपं नेवानुभूयते।
श्रद्धा व सात्विकी विप्रा जायते भावशुद्धित: ॥३९॥

अचिंतनीय, अव्यक्त वाणी और मन से अगोचर, तत्वातीत, निर्विकार, चिन्मय और सृष्टि से परे इस प्रकार का जो मेरा रूप है, उसका अनुभव बिना श्रद्धा के नहीं हो सकता। हे विप्रो! भावशुद्धि सात्विकी श्रद्धा उत्पन्न होती है। भावशुद्धि से पहले चित्त की एकाग्रता होती है और उसी से ज्ञान का प्रकाश होता है। ॥३८-३९॥

चित्तैकाग्रय भावाशुद्धया तस्माज्ज्ञानं विकासते।
ततो ह्यूत्पद्यते श्रद्धा सात्विकी ज्ञानमूलिका ॥४०॥

अतो विद्वद्भिराख्याता भावशुद्धेः प्रधानता ।
यथा यथा साधकस्य चितं श्रद्धोपगूहति ॥४१॥

तथा तथा भावशुद्धिः सन्निधत्तेऽस्य चेतसि
श्रद्धया भावनिश्पत्तिर्भावश्चोन्नतिसाधकः ॥४२॥

फिर भाव जिसके मूल में है, वह सात्विकी श्रद्धा उत्पन्न होती है। इसी से विद्वानों ने भावशुद्धि की प्रधानता का वर्णन किया है। जैसे जैसे साधक के चित्त को श्रद्धा आश्रय करेगी, वैसे वैसे उसके चित्त में भावशुद्धि की मात्रा बढ़ेगी। श्रद्धा से भाव की पूर्णता होती है और भाव ही उन्नति विधायक है। ॥४०-४२॥

फलसिद्धिर्नणां शुद्धभावमूला निगद्यते ।
भावशुद्धिं विना जुष्टधर्मांगेष्वेकमप्यलम् ॥४३॥

न प्रसूते फलं दिव्यं पुंसामित्येष निश्चयः ।
धर्मांगेषु च सर्वत्र भावशुद्धिरपेक्षिता ॥४४॥

मनुष्यों को फल सिद्धि शुद्धभाव द्वारा प्राप्त होती है। भावशुद्धि के बिना आचरित कर्म का एक भी अंग मनुष्यों को महत फलदायक नहीं होगा, इसमें सन्देह नहीं है। सभी धर्मांगो की साधना में भाव शुद्धि की अपेक्षा रहती है। ॥४३-४४॥

ततश्चैतद्विचारोऽयं स्पष्टं प्रस्तूयते मनाक ।
यदि कोऽपि नरो दानधर्मसाधनतत्परः ॥४५॥

फलप्रत्युपकाराप्ति भावमालिन्यदूषितः ।
अपि दद्यात्स्वर्णकोटिं ततोप्यधिकमेव वा ॥४६॥

यहाँ पर इस सम्मान में स्पष्ट विचार किया जाता है। यदि कोई दान धर्म के साधन में तत्पर पुरुष फल अथवा प्रत्युपकार की प्राप्ति रूप भाव मालिन्य से दूषित होकर करोड़ों अथवा इससे भी अधिक मोहरें दान करे ॥४५-४६॥

किन्तवैहिकसुखातस्वर्गाद्वाऽन्यन्नो लभते फलम् ।
अथैका ताम्रमुद्रापि सुगुप्तं शुद्धभावतः ॥४७॥

तो उसे इहलोक में सुख अथवा स्वर्गप्राप्ति के अतिरिक्त कोई फल नहीं होगा। और यदि भावशुद्धि पूर्वक तांबे का एक ही पैसा गुप्तरूप से दान किया जाय ॥४७॥

दीयते चेत्सापि दातुः साक्षान्मोक्षाय ।
एवं तपोऽपि यद्यत्र दम्भार्थ यशसेऽथवा ॥४८॥

तो यह पैसा दाता को साक्षात् मोक्ष प्राप्त कर सकता है। ऐसे ही यदि दम्भ दिखाने अथवा यश फैलाने की इच्छा से कोई तप करे ॥४८॥

निषेव्यते तदा नेयात् तद्दिव्यफलहेतुताम
तपस्तदेव तप्तञ्चेदात्मोन्नतिधिया नरैः ॥४९॥

निर्मायं शुद्धभावेन तत्तु मुक्त्यै प्रजायते ।
एवमेव सदाचारविषयेऽपि विचिन्त्याम ॥५०॥

तो उस तप का दिव्य फल कभी प्राप्त नहीं होगा। वही तप यदि मनुष्य आत्मोन्नति करने की बुद्धि से कपट रहित होकर शुद्धाभाव से करे तो वह मुक्ति का कारण होता है। इसी प्रकार सदाचार के विषय में भी सोचना चाहिए ॥४९-५०॥

यथा कोऽपि यशस्काम: शीलं व्यञ्जयितुं निजम
छद्यना विनयी भूत्वा प्रणमेंद्बहुशस्तदा ॥५१॥

यदि कोई कोई यश की इच्छा रखनेवाला मनुष्य अपना शील दिखाने के लिए कपट से नम्र होकर बहुत प्रणाम किया करे ॥५१॥

तत्सर्व राजसौद्देश्यसंसिद्ध्या एव केवलम।
किन्तु सच्चाश्रितः कोऽपि पूज्यत्वेन सतो नमेत ॥५२॥

स तदाऽऽध्यात्मिकी विन्देदिन्निं सत्यशीलवान।
इत्थमेव च यः कश्चितकर्मसाधनतत्पर: ॥५३॥

तो वह केवल राजसिक उद्देश्य की सिद्धि प्राप्त कर सकेगा। किन्तु जो सच्चा शीलवान होगा, सह सत्वगुण के आश्रय से सज्जनों को पूज्य मानकर प्रणाम करेगा और उससे आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करेगा। ॥५२-५३॥

सात्विकञ्जपयागादीन् दुष्टभावनाऽऽचरित ।
एतेभ्यः सात्विकेन्योऽपि नीचभावाश्रययादसौ ॥५४॥

केवलां राजसीमेव सिद्धिं समाधिगच्छति।
येन चेत्पूतभावेनाऽऽध्यात्मिककोन्नतिमीप्सुना ॥५५॥

विहितः पश्यागोऽपि नूनं स्यात्तस्य मुक्तये।
भक्त्युपासनयोर्यानि साधनानीह तान्यपि ॥५६॥

इस प्रकार कोई साधन कर्म साधन में तत्पर मनुष्य यदि सात्त्विक जप, याग आदि कर्मों को दुष्ट भावना से करे, तो उस नीचभावना के आश्रय से सात्विक कर्म भी केवल राजसिक सिद्धि के देने वाले बन जाएंगे। आध्यात्मिक उन्नति चाहने वाला मनुष्य पवित्रभाव से यदि पशुयाग भी करे, तो वह उसकी मुक्ति का कारण बनेंगे ॥५४-५६॥

यथार्थफलदानि स्युर्भावशुद्धयैव केवलम् ।
यश्च निष्कामभावेन देवपित्राद्युपासनाम् ॥५७॥

भक्ति और उपासना के जितने साधन है। वह सभी केवल भावशुद्धि से ही यथार्थ फल प्रदान करते हैं। जो निष्कामभाव से देवता पितृ आदि की उपासना करता है, ॥५७॥

कुर्यात्तदा ततोऽप्यस्य मुक्तिरेवो पपद्यते।
सकामश्यचेच्चरेदब्रह्मोपासनामपि मानवः ॥५८ ॥

भावमालिन्यतः सापि स्वर्गमात्रप्रदायिनी।
ज्ञानकाण्डगता येयं शास्त्रशिक्षाप्रणलिका ॥५९॥

उसकी उसी से मुक्ति अवश्य होती है। सकाम होकर मनुष्य यदि ब्राह्मोपासना भी करे, तो भाव्मालिन्य के कारण वह केवल स्वर्ग देने वाली होगी। हे मुनिगण ! ज्ञानकाण्ड के अंतर्गत जो शास्त्र शिक्षा के प्रणाली है, ॥५८-५९॥

तत्राप्येतत ल्मुक्तं मुनिर्वर्या विवुध्ताम ।
स्थूलष्टया विवादाय ये वै शास्त्रशिक्षाप्रणालिका ॥६०॥

तेषां शाब्दं ज्ञानमेतद्भारं एव निरर्थकम
यः सद्वादाय शास्त्रार्थभ्यसी विज्ञासुभावत: ॥६१॥

सोऽवश्यं प्राप्तविज्ञानः स्वात्मभावं प्रपद्यते ।
योगसाधनमध्ये तु भाव एव विशिष्यते ॥६२॥

उसमें भी यही तत्व कहा गया है, यह आपको जान लेना चाहिए। विवाद के लिए ही स्थूल दृष्टि से जो शास्त्र पढ़ते हैं, उनका शब्द पांडित्य केवल भारभूत और व्यर्थ है। जो उत्तम वाद के लिए जिज्ञासु सुबुद्धि से शास्त्रार्थों का अभ्यास करता है, वह अवश्य ही विज्ञान प्राप्त कर आत्मभाव में पहुँच जाता । योग साधनों में तो भाव ही प्रधान है ॥६०-६२॥

योगसिद्धिरलस्यैव भावालम्बन मन्तरा।
आध्यात्मिकयुन्तिप्राप्तावुपाया ये प्रकीर्तिता: ॥६३॥

तेष्वप्ययं भाव एव मतः प्रधान्यतो बुद्धा।
समाधिविषयेऽप्यस्याऽवश्यमभावो ह्यपेक्षित: ॥६४॥

भाव का अवलम्बन किए बिना योगसिद्धि अप्राप्य है। हे विज्ञों! आध्यात्मिक उन्नति के जो उपाय कहे गए है, उनमें भी भाव की ही प्रधानता रखी गयी है। समाधि के विषय में तो भाव की अधिक आवश्यकता रहती है। ॥६३-६४॥

सविकल्पो निर्विकल्पः स्माधिर्यो द्विधा मत ।
तत्र पूर्वमतिक्रमय सविकल्पं हि साधक: ॥६५॥

निर्विकल्पसमाधौ च प्रविविश्रुर्यदा भवेत् ।
तदा सात्विकभावस्य साहाय्येनैव तत्र स: ॥६६॥

समाधि सविकल्प तथा निर्विकल्प दो प्रकार की कही गयी है। उसमे से पहली समाधि को अतिक्रमण करके सो साधक निर्विकल्प समाधि में प्रवेश करना चाहता है, वह सात्विक भाव की सहायाता ही सफलता प्राप्त कर सकता है। ॥६५-६६॥

साफल्यं लभते नूनं न तु भावाश्रयं बिना।
उक्तञ्च प्राक् श्रद्धयैव भाव उन्नतिमश्नुते ॥६७॥

तयैव चास्य संशुद्धिवृद्धयोदेत्यसंशयं।
यदा च पूर्णरूपेण भावशुद्धिः प्रजायते ॥६८॥

भाव का आश्रय लिए बिना सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। पूर्व में कहा गया है कि श्रद्धा से ही भाव की उन्नति होती है, उसी श्रद्धा की वृद्धि से भावशुद्धि होती है, इसमें सन्देह नहीं है। ॥६७-६८॥

तदा नृणां परा भक्ति स्वत एव सुसिद्धयति ।

श्रद्धेयं सुतरां प्रत्याहारभूम्युप योगिनी ॥६९॥

भावश्च धारणाभुमावुपकारकतान्त:।
एवमेव ध्यानभूमौ भक्ति: समवल्मब्ते ॥७०॥

जब पूर्णरूप से भावना शुद्ध हो जाती है, तब मनुष्यों को पराभक्ति स्वयं प्राप्त होती है। यह श्रद्धा प्रत्याहार भूमि में और भाव धारण भूमि में उपकारक है। इसी तरह ध्यान भूमि में भक्ति का अवलम्बन किया जाता है ॥६९-७०॥

तस्माछद्धैव सर्वेषा मूलपादौ न संशय
एतदुक्तं मया भावतत्वं सुजुषते तु यः ॥७१॥

अत: श्रद्धा ही सबका मूल है, यह निःसन्देह है। हे सत्पुरुषों! वह मैंने जो भावतत्व कहा है ॥७१॥

सन्तो विशुद्धभावोऽसौ परं श्रेयोऽधिगच्छाति ।
अतो वै योगिनो यस्य भावशुद्धिरजायत ॥७२॥

अन्तःकरणमध्येऽथ शास्त्रे श्रद्धा तथा गुरौ।
ईदृशो गुरुभक्तस्य श्रद्धालोस्तत्त्वदर्शिन: ॥७३॥

इसके आचरण से साधक की भावशुद्धि होकर वह परम कल्याण को प्राप्त करता है। सारांश यह है कि, जिस योगी की भावशुद्धि हो जाए और जिसके अन्तःकरण में शास्त्र तथा गुरु के प्रति श्रद्धा हो, वह गुरुभक्त, श्रद्धालु, तत्वदर्शी योगी ॥७०-७१॥

भावशुद्ध्या पवित्रान्त: करणस्य च योगिन: ।
चिन्मयं रूपमव्यक्तं व्यक्तं मे भवति ध्रुवम ॥७४॥

ईक्षते स तदानीं मां जंगमस्थावरात्मके ।
स्थूलसूक्ष्ममोभये सर्गे सूत्रे मणिगण यथा ॥७५॥

जिसका अन्त: करण भावशुद्धि से पवित्र हो गया है को मेरा अव्यक्त चिन्मय स्वरुप शीघ्र व्यक्त हो जाता है। तब वह इस स्थावर जन्गात्मक और स्थूल सूक्ष्मात्मक उभय प्रकार की सृष्टि में मुझे सूत्र में पिरोए हुए मणियों की तरह देखता है। ॥७४-७५॥

उपले मूर्तिवत् सर्वे मय्येवेदं स्थितं जगत् ।
विभुराकाशवच्चाऽमि तदद्दष्टा च तत: पृथक ॥७६॥

पत्थर पर उकेरी गई मूर्ती की तरह मुझमें यह समस्त जगत स्थित है। मैं विभु और आकाश के समान उनका द्रष्टा होकर उनसे पृथक हूँ ॥७६॥

अस्येवाहमिदं सर्वे सर्वस्मादप्यहं पृथक ।
निमित्तं जग्ताश्च्चाऽमि तथोपादानमेव च ॥७७॥

मैं ही यह सब कुछ हूँ और सबसे पृथक भी हूँ। जगत का निमित्त कारण मैं हूँ और उसका उपादान कारण भी हूँ। ॥७७॥

मत्सत्तया जगत्सता किन्तु व्यक्तस्थितौ जगत ।
मय्येव विन्दते स्वीयां स्थितिमतद्विनिश्चितम ॥७८॥

अव्यक्तावस्थितौ याति जगत्सत्तालयं मायि ।
जीवदेहेऽसि कूटस्थोऽनन्तब्रह्माण्डदर्शक: ॥७९॥

ईश्वरोऽहं तथा लोके प्रथित: शास्त्रविस्तरे।
ममैकस्मिन् स्थिता क्षुद्रेऽनन्तब्रह्माण्डरूपिणी ॥८०॥

सृष्टिरंशेऽहमेवाऽस्मि सच्चिदानन्दरूपवान ॥८१॥

मेरी सत्ता से जगत की सत्ता है किन्तु जगत व्यक्त अवस्था में मुझमें ही अपने अस्तित्व को प्राप्त करता है और यह निश्चय है कि, अव्यक्त अवस्था में मुझमें जगत सत्ता लय को प्राप्त हो जाती है। मैं जीवों के शरीरों में मैं कूटस्थ और अनंत ब्राह्मणों को देखनेवाला ईश्वर हूँ -यह बात शास्त्रों में तथा लोक में सर्वत्र प्रसिद्ध है। मेरे एक छोटे से अंश में अनन्त ब्रह्माण्डरूपिणी सृष्टि स्थित है और मैं ही सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ ॥७८-८१॥

इति श्रीमूर्यगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे सूर्यऋषि सम्वादे सृष्टिप्रकरण आत्मस्वरुप वर्णन नाम पञ्चमोऽध्यायः।

इस प्रकार श्रीसूर्यगीतोपनिषद् के ब्रहाविद्या सम्बन्धी सूर्य ऋषि संवादात्मक सृष्टिक्रम और आत्मस्वरूप वर्णन नामक पञ्चम अध्याय समाप्त हुआ।

॥ॐ सवित्रे नमः ॥

॥श्री सूर्य गीता ॥

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

ब्रह्माणोऽधिभूत दर्शनं – योगविज्ञान वर्णनं : ब्रह्म के आदिभूत दर्शन और योग विज्ञान वर्णन

ऋषय ऊचुः ॥१॥

महर्षि गण बोले ॥१॥

भवतश्चिन्मयं रूपं तत्त्वातीतञ्च यत प्रभो ! ।
इदानीमपि नोऽसमाभिर्बुध्यते खलु तत्त्वतः॥२॥

भगवन् ! कृपयाऽमान स्वं विराडरूपं प्रदर्शय ।
जगद्गुरो ! गीयसे तवं सर्वशक्ति समन्वितः ॥ ३॥

हे प्रभो! आपका तत्वातीत चिन्मय रूप हमें अब भी भली भाँति समझ में नहीं आया । इसलिए हे भगवान् ! कृपा करके आप हमें अपना विराट् रूप दिखाइये । हे जगद्गुरो ! आप सर्व शक्तिमान् है ॥२-३॥

सूर्य उवाच ॥ ४॥

श्रीसूर्यदेव ने कहा ॥४॥

भवतां श्रद्धया विप्रा एकाग्रयेण च तोपित:।
जिज्ञासया च दिव्यं वश्चक्षु: सम्प्रददेऽधुना ॥५॥

युयं तेनाऽशु मे स्थूलं विराडरूपं प्रपश्यत ॥६॥

हे द्विजगण! आपकी एकाग्रता और श्रद्धा से मैं प्रसन्न हूँ। आपकी जिज्ञासा से मैं आपको दिव्य चक्षु प्रदान करता हूँ, जिससे आप मेरे विराट् स्थूल शरीर को देख पायेंगे ॥५-६॥

ऋषय ऊचु: ॥७॥

ऋषिगण बोले ॥७॥

देवादिदेव ! प्रथितप्रभाव! दृष्ट्वा महाकाश इह प्रसन्ने।
अनादद्यनन्ते सुविराटशरीरमनाद्यनन्तं तव विस्मिता स्म: ॥८॥

हे प्रसिद्धप्रभाव! देवादिदेव! इस अनादि अनन्त निर्मल महाकाश में आपका अनादि अनन्त विराट् शरीर देखकर हम विस्मित हो गये हैं ॥८॥

तव प्रसादात् खलु दिव्यदृष्टिसमृद्धिमन्तोऽपि वयं भवामः ।
अपूर्वदेहस्य तवैकमंगमपीक्षितुं पूर्णमहो क्षमा न ॥९॥

आपके प्रसाद से दिव्य दृष्टि रूप समृद्धि को प्राप्त हुए हैं, तो भी आपके अपूर्व देह के पूरे एक अंग को देखने में भी हम समर्थ नहीं हैं।॥९॥

भवच्छरीरप्रतिरोमकूपमहो महासूर्यगणः समन्तात् ।
अस्माकमेतानि समुज्ज्वलानि स्तभ्नान्ति दिव्यान्यपि दर्शनानि ॥१०॥

आपके शरीर के प्रत्येक रोमकूप में चारों ओर अनेक महासूर्य विद्यमान हैं, जिनसे हमारी उज्जवल और दिव्य दृष्टि भी चकाचौंध को प्राप्त हुई है ॥१०॥

तवाघ्रिमाश्रित्य यथाधिकारं ब्रह्माण एते हरयो हराश्च।
सृजन्ति रक्षन्ति च संहरन्ति ब्रह्माण्डसंघानिति दृश्यतेऽत्र ॥११॥

यहाँ पर देखा जाता है कि, आपके चरण का आश्रय कर अनेक ब्रह्मा विष्णु महेश अनेक ब्रह्माण्डों की सृष्टि स्थिति और लय करते हैं ॥११॥

ऊर्द्धर्वेऽप्यधोऽपीश्वर ! नाभितस्ते लोकानसंख्यान ननु सप्त सप्त।
निरीक्ष्य चित्रं स्मृतिशक्तिहीनाः संस्तम्भिता केऽपि वयं भवामः
॥१२॥

हे ईश्वर ! आपकी नाभि से ऊपर भूःभुवःस्वः आदि असंख्य सप्त ऊर्वलोक और नाभि से नीचे रसातल पातालादि अगणित सप्त अधोलोक देखकर स्मृतिशक्ति से हीन हो हम जड़वत् हो गये हैं ॥ १२॥

विराटस्वरूपा दश बाहवस्ते दिशो दश व्याप्य विराजमानाः।
तिष्ठन्ति सम्यक सुविचित्रमेषां नादि निरीक्षामह एवमन्तम् ॥१३॥

आपके परमविशाल दश हाथ दसों दिशाओं में व्याप्त हो रहे हैं। उनमें यह विचित्रत्ता है कि, हमें न तो उनका आदि दिखाई देता है न अन्त ही दिखाई देता है ॥१३॥

एषां कराणां समनन्तभावात् व्याप्तं महाकाशमपि ह्यनन्तम् ।
एतत्पुनश्चिन्तयतां मनो नो मोहाम्बुधौ साधु निमज्जतीय ॥१४॥

आपके हाथों के अनन्त होनेसे अनन्त महाकाश भी उनके द्वारा व्याप्त हो रहा है-इसका विचार कर हमारा मन मुग्धतारूप समुद्र में डूब जाता है ॥ १४ ॥

आनन्ददस्याऽपि तवाननस्य विचित्रकार्य्यं विवरस्य वीक्ष्य।
अहो वयं विस्मयलुप्तधैर्याःस्म कीदृशास्तन्नाहि वक्तुमीशाः ॥१५॥

आनन्द देनेवाले आपके मुख के विवर का विचित्र कार्य देखकर हम विस्मित होकर ऐसे धैर्यहीन हो गये हैं कि हमे अपनी दशा का वर्णन नहीं कर सकते ॥१५॥

अतीतसंख्या विधुधा दिगीशाः सूर्याः शशांकाः कमलासनाश्च ।
अहो ग्रहोपग्रहतारकाद्याः सर्व्वेऽत्र तिष्ठन्ति विचित्रदृश्याः ॥१६॥

असंख्य देवता, दिग्पाल, सूर्य, चन्द्र, ब्रह्मा, प्रह, उपमह, तारामण आदि विचित्र रूपसे इसमें विराजमान हैं ॥ १६॥

सिद्धाः सुरा यक्षमहोरगाद्या मर्त्या अमर्त्या भुवनं समन्तात् ।
चराचरं हे जगदादिदेव ! दृश्यन्त एवात्र विचित्रेमतत् ॥१७॥

हे देवादिदेव ! सिद्ध, सुर, यक्ष, महोरग, मनुष्य, देव और समस्त भुवनआदि चराचर इसमें दिखाई देते हैं-यह एक विचित्र बात है ॥१७॥

ब्रह्माण्डसंघानमिवानसंख्यान निर्गच्छतोऽस्मात खलु काँश्चनाशु।
प्रतिक्षणं काँश्चन गच्छतोऽत्र दृष्ट्वा वयं विस्मयमाश्रिताः स्मः ॥१८॥

अनगिनत आपके विरत शरीर से बाहर निकलते और बाहर से इसमें प्रविष्ट हो जाते हैं, वह देखकर हमें बडा विस्मय होता है ॥ १८॥

एवं विधं किञ्चन नैव विद्यो यदत्र नो सत्र सविकाशमस्ति।
सुसंयमेनाऽपि कथञ्चनाऽपि न ज्ञातुमीशा वयमय तत्त्वम् ॥१९॥

ऐसी कोई वस्तु नहीं देखते, जो सत् और प्रकाशमय न हो, विशेष ध्यान देने पर भी किसी प्रकार इसका तत्त्व जानने में हम समर्थ नहीं हो सकते ॥१९॥

अहो महाकालविभोरनन्तरूपं महोमोगग्रमखण्डनीयम् ।
कथञ्चिदेषां परिपश्यतां नो बुद्धिर्हता व्याकुलतां प्रयाति ॥२०॥

अहो, महाकाल प्रभु के अखण्डनीय और उग्रतर से भी उग्र अनन्त रूप को देखकर एकाएक हमारी बुद्धि लोप हो गयी और हम व्याकुल हो रहे हैं ॥२०॥

प्रभो ! तव श्रीमुखमण्डनस्य शोभा परानन्दमयञ्च तेजः ।
संपश्यतां नः परमाऽभिमानः स्वरूपशुन्योऽस्तमितः परात्मन् ॥२१॥

हे परमात्मन् ! हम लोगों में जो अभिमान था, वह हे प्रभो! आपके सुन्दर मुख की शोभा और परमानन्दमय तेज को देखकर मूलसहित जाता रहा। ॥२१॥

तव प्रसादानवदिव्यदृष्टिं प्राप्याऽपि विश्वेश्वर ! विश्वरूपम्।
अनाद्यनन्तं किमिवाऽद्य वीक्ष्य भीता वयं सूच्छितबद्भवामः ॥२२॥

हे विश्वेश्वर ! आपके प्रसाद से नवीन दिव्य दृष्टि को प्राप्त करने पर भी आपका अनाद्यनन्त विश्वरूप देखकर हम भयभीत और मूर्छित हो रहे हैं ॥२२॥

अस्माकमास्ते जड़ितैव दृष्टिः लुप्तैव शान्ति प्रहतैव बुद्धि:
कर्तव्यमूढ़ा व्यमाभवामो गुरुं भवन्तं शरण प्रपन्ना: ॥२३॥

इमारी दृष्टि जड़वत् हो गयी है। हमारी शान्ति भंग हो गई है, बुद्धि समाप्त हो गई है और हमन कर्तव्य विमूढ़ होकर हे गुरो! आपकी शरण में आए हैं ॥२३॥

रूपं प्रभो! संहर संहरैतन्मनोहरं दर्शय दर्शयाऽन्यम।
पूर्णां धृति स्याम यथाऽधिगन्तु मीशास्तथा तवं दयया विधेहि ॥२४॥

हे प्रभो ! आप अपने इस रूप को शीघ्र दूर कर मनोहर अन्यरूप शरीर प्रकट कीजिये और जिस से हम पूर्ण धैर्य को धारण करने में समर्थ हो, ऐसा कृपा करके कीजिए॥२४॥

अनन्तवैचित्र्यमयं प्रदीप्तं विराट्स्वरूपं तव भीतिद यत ।
तस्माद्वयं चित्तसदेकतत्त्वभावं सुपातुं न तु पारयाम: ॥२५॥

अनन्त विचित्रताओं से युक्त आपका प्रकाश मान भयंकर विराट् स्वरुप देखकर हम अपने चित्त के उत्कृष्ट एकत्व भाव को नहीं रख पा रहे ॥२५॥

तत्सच्चिदानन्दमयाऽद्वितीयमतीतवाहमानसर्वात्मरूपम
दृष्ट्वा वयं स्याम यथा कृतार्थास्तथा विदध्याभुवनेश्वर: ! तवम ॥२६॥

हे त्रिभुवननाथ ! आप अपना ऐसा सच्चिदानन्दमय, अद्वितीय, वाणी और मन की गति से अतीत स्वरूप प्रकट कीजिए, जिसे देखकर हम कृतार्थ हो सकें ॥२६॥

कृपामय ! त्वां शरणाप्तवत्सलमचिन्त्यरूपं शरणागता वयम् ।
वपुर्मनोवागभिरलं समन्ततः सहस्त्रशः संप्रणमाम आकुला: ॥२७॥

हे करुणामय ! हे शरणागतवत्सल ! अचिन्त्यरूप! आपके हम शरणागत हैं और व्याकुल होकर काया, वाणी तथा मन से आपको सहस्त्रों प्रणाम करते हैं ॥२७॥

व्यास उवाच ॥२८॥

व्यासजी बोले ॥२८॥

एवं प्रार्थयमानेषु महर्षिषु विहाय स:।
सूर्यो देवो विराडरूपं रूपं लीलामयं दद्यो ॥२६॥

इस प्रकार महर्षियोंके प्रार्थना करनेर श्रीसूर्य देव ने विराट रूप का निग्रह करके लीलामय रूप धारण किया ॥२९ ॥

तेजोमयस्तदानीं स भगवान भक्तवत्सलः।
आविर्वभूच सहसा विगलत्काञ्चनप्रभः ॥३०॥

उस समय तेजोमय भक्तवत्सल श्रीभगवान सूर्यदेव सहसा पिघले हुए स्वर्ण के समान कान्तिमान होकर आविर्भूत हुए ॥ ३०॥

चतुर्षु तस्य हस्तेषु शोभमानेषु सर्वथा ।
शङ्खचक्रच कमलं शक्तिश्च रजिरेतमाम ॥३१॥

उनके शोभायमान चारों हाथों में शंख, चक्र, पद्म और शक्ति अच्छी तरह से सुशोभित थीं ॥३१॥

सप्तिभिर्वाजिभिः सप्तरूपैराकृष्टमुज्ज्वलम्।
एकचक्रं रथं दिव्यामारुढोऽरुणसारिथम ॥३२॥

प्रसन्नवदनः शान्तः स्मितशोभितदिग्मुखः।
तेजो ज्योतिश्च सर्वेभ्यस्तदानीं प्रददौ भृशम ॥३३॥

सात रंग के सात अश्वों से आकृष्ट उज्ज्वल और दिव्य एक चक्रवाले रथ पर आरूढ़, अरुण सारथि, प्रसन्न मुख, शान्त मन्दहास्य से सुशोभित है। दशों दिशारूप मुखों से युक्त ऐसे सूर्यदेव ने उस समय सकल लोको को तेज और ज्योति प्रदान की ॥३२-३३॥

एवमाविर्भवन्तं तं भगवन्तं महर्षेयः ।

विलोक्य बद्धाञ्जलयः प्रणतास्तुष्टुवुर्मुदा ॥३४॥

इस प्रकार आविर्भूत श्री भगवान् सूर्यदेव के दर्शन करके महर्षिजन हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक प्रसन्न चित्त होकर स्तुति करने लगे ॥३४॥

महर्षय ऊचुः ॥३५॥

महर्षिगण बोले ॥३५॥

देवादिदेव ! स्तोतव्य ! ज्योतिज्योर्तिस्तवमद्भुतं।
संजीवयस्पनन्ते हि बहाण्डे ज्योतिषाऽखिलम् ॥३६॥

हे स्तुति करने योग्य देवादिदेव ! आप ज्योतियों की भी ज्योति हैं और उस ज्योति से ही अनन्त ब्रहमांड स्थित सकल पदार्थों को आप सजीव करते हैं, यह अद्भुत है ॥३६॥

सूर्यः स्वतन्त्र प्रत्येक ब्रह्मांण्डे स्वस्वमण्लात ।
त्वज्ज्योतिराप्तोऽनायासं ज्योतिःस्रोत: किरत्यलम् ॥ ३७॥

आपकी ज्योति को प्राप्त करके प्रत्येक ब्रह्माण्ड में पृथक पृथक सूर्य अपने अपने मंडल से अनायास ज्योतिःस्रोत प्रवाहित करते हैं ॥३७॥

यत्तेज इह संसारे यच्च ज्योतिसत्वमेव तत।
तेजोज्योतिःप्राणतोऽदो विश्व वत्से त्वमेव हि॥३८॥

इस संसार में जो तेज और ज्योति है, वह आप ही हैं और इस विश्व को अपने तेज ज्योति और प्राणद्वारा आपने ही धारण कर रखा है ॥३८॥

अनन्तकोटिब्रह्माण्डपिण्डसंघा पृथक पृथक ।
त्वय्येव प्रोथिताः सन्ति सूत्रे मणिगणा इव ॥३९॥

अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड और पिण्डों के समूह पृथक पृथक होनेपर भी सूत्र में मणियों की तरह आप में ही ग्रथित हैं ॥३९॥

आदिर्गुरूणां सर्वेषां त्वमेवाऽसि जगद्गुरुः ।
ऋषिभिः स्राव्यस्येतजज्ञातस्रोतसत्वमेव हि ॥४०॥

समस्त गुरुओं के आदि रूप आप ही जगद्गुरु हैं और ऋषियों के द्वारा यह ज्ञान का स्रोत ही बहाया करते हैं ॥४०॥

समर्प्य शक्तिर्देवेषु कृत्वा कृत्वाकर्मव्यवस्थितिम
सृष्टिस्थितिलयानां त्वं सामञ्जस्यं क्रोष्यलम ॥४१॥

देवताओं को शक्ति प्रदान करके कर्मों की व्यवस्था करते हुए सृष्टि, स्थिति और लय के उचित सामञ्जस्य का विधान आप ही करते हैं ॥४१॥

त्वमेव पितरूपेण मानवानां क्रमोन्नतिम।
विदधासि जगद्वन्ध ! कृपयाद्भुतया तया ॥४२॥

हे जगतवन्द्य ! आप ही अपनी अद्भुत कृपा के द्वारा पितरूप से मनुष्य की क्रमौन्नति का विधान करते हैं ॥४२॥

परमात्मन् ! त्वमेतेभ्यो जीवेभ्यो निजतेजसा ।
आकृष्य क्रमशो मुक्ति ददासि सविताऽसि तत ॥४३॥

हे परमात्मन् ! आप अपने तेज से आकर्षण प्रदान कर इन जीवों को क्रमशः मुक्ति प्रदान करते हैं। अत: आप सविता हैं ॥४३॥

त्वं विश्ववन्ध ! क्रमशश्चित्सत्ताया विवर्द्धने:।
जीवान् नयसि कैवल्यं तद्विष्णुरसि विश्वय ! ॥४४॥

हे विश्ववन्द्य ! आप चित्तसत्ता का क्रमश: अभिवंदन करते हुए जीवों को कैवल्य की ओर ले जाते हैं । अत: आप ही विश्व का पालन करनेवाले विष्णु है ॥४४॥

त्वं स्वशक्तिप्रदानेन जीवान कृत्वोद्धर्वगामिनः ।
क्रमान्नयसि तद्धाम परमं शक्ति स्यत: ॥४५॥

आप अपनी शक्ति देकर जीवों को ऊर्ध्वगामी करते हुए क्रमशः परमधाम को पहुंचाते हैं। अतः आप ही शक्तिरूप हैं ॥४९॥

त्वं बुद्धितत्त्वाऽभिव्यक्त्या जीवान् प्रज्ञाप्रदानतः ।
नायेर्बुद्धे: परं पारं गणेशोऽसि ततो विभो! ॥४६॥

हे विभो ! आप बुद्धितत्व की अभिव्यक्ति करके जीवों को महाप्रज्ञा प्रदान करते हुए बुद्धि के परपार में पहुँचाते हैं। अतः गणेशरूप हैं ॥४६॥

त्वं गुरो! सांख्ययोगस्य कर्मयोगस्य च द्वयो:।

समन्वयस्याऽधिकारं दत्त्वा शंकर! सर्वथा ॥४७॥

हृदये साधकस्यालमाविर्भावयसि स्वयम् ।
अद्वैतभावं परमं परशान्तिनिकेतनम् ॥४८॥

हे गुरो ! हे शङ्कर ! आप साधक को सहयोग और योग को समन्वय का पूरा अधिकार देकर उसके हृदय में परम शान्ति के निकेतन परम अद्वैत भाव का भली प्रकार स्वयं अभिर्भाव करते हैं ॥४७-४८॥

एतामवस्थामासाद्य साधको जगादात्मक:।
स्वतः स्यात्खलु तस्मात्त्वं सदाशिवम इति स्मृतः ॥४९॥

इस अवस्था को प्राप्त होकर साधक स्वतः ही जगदात्मक हो जाता है। अतः आप "सदा शिव" इस नाम से अभिहित होते है॥४९॥

ब्रह्माण्डानामनन्तानां विधयो हरयो हराः।
त्वच्छक्तिलेशमासाद्य स्वस्वब्रह्माण्ड मण्डले ॥५०॥

आप्नुवन्तीश्वरत्वं ते कृपादृष्टि पुनस्त्व।
प्राप्याप्तुर्म्हन्त्यन्ते तत तत्व स्वरुपमनव्ययम ॥५१॥

अनन्त ब्रह्माण्डों के ब्रह्मा विष्णु महेश आपकी शक्ति के लेश को प्राप्त होकर अपने अपने ब्रह्माण्डमण्डल में ईश्वरत्व को प्राप्त होते हैं और पुनः वह आपकी ही कृपादृष्टि प्राप्त करके अन्त में आपके उस अध्यय्य स्वरूप को प्राप्त करने में समर्थ होते है ॥५०-५१॥

शब्दातीतोऽसि कर्णस्य श्रुतिशक्ति प्रदोऽपि हि।

त्वचि स्पर्शप्रदोऽपि त्वं स्पर्शातीतोऽसि सर्वथा ॥५२॥

आप शब्दातीत होने पर भी कर्म में श्रवणशक्ति प्रदान करनेवाले हैं और आप त्वक में स्पर्श शक्ति प्रदान करनेवाले होने पर भी स्पर्श से बिलकुल अतीत हैं ॥५२॥

दृष्टिशक्तिप्रदोऽप्यक्षणोदृष्टियतीतोऽसि हे गुरो !
रसातीतोऽसि रसना रस शक्तिप्रदोऽप्यल्म ॥५३॥

आप आँखों को दृष्टि शक्ति प्रदान करनेवाले होने पर हे गुरो ! आप दृष्टि से अतीत है और आप रसना को रसशक्ति प्रदान करने वाले होने पर भी आप रस से सर्वथा अतीत हैं ॥५३॥

घ्राणातीतोऽसि भगवन् ! घ्राण घ्राणप्रदोऽसि सन्।
सर्वतत्त्वादिरप्यत्र तत्त्वातीतोऽसि विश्वभृत ॥५४॥

हे भगवन् ! आप घ्राण को घ्राणशक्ति प्रदान करनेवाले होने पर भी आप घ्राणातीत हैं और आप सब तत्वों के आदि होने भी पर हे विश्वभूत ! आप तत्त्वातीत हैं ॥५४॥

प्राणस्य प्राणरूपस्त्वं बुद्धेबुद्धिर्मनोमन:
प्राणबुद्धिमनोमिस्त्वं तथाऽपि न हि गृह्यसे ॥५५॥

आप प्राण के भी प्राण, बुद्धि की भी बुद्धि और मन के भी मन हैं तथापि आप प्राण, बुद्धि और मन से नहीं ग्रहण किए जा सकते हैं ॥५५॥

अनाद्यनन्तं विश्वं हि त्वय्येन विद्यतेऽनिनम् ।
कदापि च न तत्र त्वमहो तव विचित्रता ॥५६॥

अनादि अनन्त विश्व निरन्तर ही आप में स्थित है परन्तु उसमें आप कदापि स्थित नहीं हैं, अहो! आपका यह कैसा वैचित्र्य है ॥५६॥

दयाप्रदर्शनायैव साधकानां दयामय!।
एतत् सगुणरूपं त्वं दधासि भक्तवत्सल! ॥५७॥

हे दयामय ! हे भक्तवत्सल! साधकों पर दया प्रदर्शन करने के लिए ही आप इस सगुण रूप को धारण किया करते हैं ॥५७॥

अपारकरुणा देव ! तवाऽस्मासु ततो वयं।
इदमानन्ददं रूपं दृष्ट्वा यामः कृतार्थताम ॥५७॥

हे देव! हम लोगों पर आपकी अपार करुणा है, इसी कारण से हम इस आनन्द प्रद रूप को देखकर कृतार्थता को प्राप्त हुए हैं ॥५८॥

अपारकरुणातस्ते ह्यपारकारुणामय ! ।
तवाऽस्मिश्चरणे भूयो भवाम: प्रणता वयम ॥५९॥

हे आपार करुणामय आपकी अपार करुणा से ही आपके इन चरणों में पुनः हम प्रणाम करते हैं ॥५९॥

व्यास उवाच ॥६०॥

व्यासजी ने कहा। ॥६०॥

इत्युदीर्य प्रणम्यापि भूयो भूयः सहस्रश:
तूष्णी ऋषिषु जातेशु सूर्यस्तान सदयोऽब्रवीत ॥६१॥

यह कहकर वह ऋषिगण सूर्यदेव को पुनः पुन: हजारों प्रणाम करने लगे और जब ऋषि शांत हुए तब दयालु सूर्यदेव ने उनसे कहा ॥६१॥

सूर्य उवाच ॥६२॥

सूर्यदेव ने कहा ॥६२॥

महिमानं मम ख्यातं जगज्जीवशिवेच्छया ।
एतद्विज्ञानमय्यैव प्रचायत शिक्षया ॥६३॥

मेरी इस विख्यात महिमा और विज्ञानमयी शिक्षा का जगत के जीवों की कल्याण की कामना से आप सभी संसार में प्रचारित करें ॥६३॥

इडापिङ्गलयोः सन्धौ सायं प्राप्तश्च भक्तित:।
ध्यायतैतां विराड्मूर्ति यूयं सदवृत्तबुद्धया ॥६४॥

इडा और पिंगला की संधि में प्रातः काल और सायं काल भक्ति भाव से इस विराट् मूर्ति का आपको शुद्ध बुद्धि द्वारा ध्यान करना चाहिए ॥६४॥

मदेकचित्ता मदयुक्ता मदभक्ता मत्परयाणा: ।
मद्याजिनो मत्प्रणामा मत्स्था भवत सर्वथा ॥६५॥

केवल मुझ में ही चित्त लगाइए और सावधानता से तत्पर होकर, मेरे भक्त बन जाइए, मुझमें अनुरक्त होकर, मेरी पूजा करिए, मुझे नमस्कार करिए और निरन्तर मुझमें ही स्थित हो जाइए ॥६५॥

ममाऽव्ययं निर्विकारं सचिदानन्दरूपकम ।
स्वरुपमेवं सत्येव ज्ञातुं शक्नुत सन्ततं ॥६६॥

तभी मेरे अव्यय, निर्विकार, सनातन सच्चिदानंदमय स्वरूप को जानने में निरन्तर समर्थ हो सकेंगे ॥६६॥

महर्षय ऊचुः ॥६७॥

महर्षिगण ने कहा ॥६७॥

प्रभो! तथोपदेष्टव्यं वातवच्चपलं मन:
यथा निगृह्य शक्ष्यामस्त्वां स्मर्तुं चिरशान्तये ॥६८॥

हे प्रभो ! अब आप ऐसा उपदेश करें, जिससे वायु के समान चंचल मन को रोक कर स्थायी शान्ति के लिये हम आपका आपका स्मरण करने में समर्थ हों ॥६८॥

देव ! त्वमेव परम उपदेष्टाऽसि वस्तुत:।
तत्त्वतः श्रोतुमिच्छामो भक्तो योग च किञ्चन ॥६९॥

हे देव! वास्तव में आप ही परम उपदेष्टा हैं, इस कारण आप से ही भक्ति और योग के सम्बन्ध में हम कुछ सुनना चाहते हैं ॥६९॥

सूर्य उवाच ॥७०॥

श्री सूर्य देव बोले ॥७०॥

भक्ता महर्षयः सम्यक श्रूयतामीप्सितं हितम् ।
यथार्थविषयासक्तिरनुराग: प्रकीर्तितः ॥७१॥

हे भक्त महर्षियो ! जो कल्याणकारी विषय आप सुनना चाहते है, वह भली प्रकार से सावधानी पूर्वक सुनिए। विषयों में यथार्थ आसक्ति को अनुराग कहते हैं ॥७१॥

अनुरागो बहुविधो विषयाणां विभेदतः ।
पुत्रादिष्वनुरागः सः स्नेह इत्यभिधीयते ॥७२॥

विषयों के भेद से अनुराग कई प्रकार का होता है, पुत्रादि में जो अनुराग होता है, उसे स्नेह कहते हैं ॥७२॥

स्त्रीमित्रादिषु सः प्रेमा श्रद्धा स जनकादिषु ।
मय्येव साधकानां स भक्तिरित्यभिधीयते ॥७३॥

मित्रादि में जो अनुराग होता है, उसको प्रेम और माता पितादि में जो अनुराग होता है, उसको श्रद्धा कहते हैं। जो साधक मुझ में अनुराग करते हैं, उसे भक्ति कहते है ॥७३॥

अशेषपुण्यसम्भाराऽमृतार्दीकृतचेतसाम।
लभ्येयं विविधा भाति वैधी रागात्मिका चसा ॥७४॥

अनेक पुण्य पुञ्जरूप अमृत से जिनके चित्त आद्र हो गए हों, उन्ही को प्राप्त होने वाली यह भक्ति दो प्रकार की होती है। एक वैधी और दूसरी रागात्मिका ॥७४॥

गुरूपदेशपीयूष विधौपूतमानसा।
मदेकचित्ता भाविंतु यतन्ते साधका यदा ॥७५॥

यदा स्वानीन्द्रियादीनि मदुपस्तौ तु सर्वथा।
नियोजयितुमीहन्ते तदा वैधी प्रकाशते ॥७६॥

गुरु के उपदेश रूपी अमृत से धुलकर जिनके मन पवित्र हो गये हों; वह साधक जब मुझमें ही चित्त का लय करने का यत्न करने लगते हैं, और अपनी समस्त इन्द्रियाँ मेरी ही उपासना में लगा देने की इच्छा करते हैं, तब वैधी भक्ति का उदय होता है ॥७५-७६ ॥

ततो योगं समस्यस चित्तवृत्तिर्निरुद्धय च।
मद्भक्तो क्रमशो धीर साधके सति मज्जति ॥७७॥

योगाभ्यास के द्वारा और चित्तवृत्ति के निरोध द्वारा क्रमश: जो धीर साधक मेरी भक्ति में डूबता है ॥७७॥

मद्भक्तिसागरेऽवणर्ये पीयूषरसजेतसि।
उन्मज्जयति तं यैव निमज्जयति च सफुटम ॥७८॥

अमृत को भी जीतने वाले वर्णनातीत मेरे भक्ति रूपी उस सागर में उसे जो उन्मज्जन और निमज्जन कराती है ॥७८॥

सैव रागात्मिका भक्तिरतीतवर्णनागतिः।
विनानुभवमतस्या रूपं सम्यग न बुद्ध्यते ॥७९॥

वही रागात्मिका भक्ति है, जो वर्णानातीत है, बिना अनुभव के इसका रूप भली भांति विदित नहीं हो जाता ॥७९॥

पुण्यानां ज्ञानिभक्तानां भक्तिर्ज्ञानमयी तु सा।
सैव शुद्धा पराभक्तिः परकल्याणसाधिनी ॥८०॥

पुण्यात्मा ज्ञानी भक्तों की जो ज्ञानमयी भक्ति है, वही शुद्ध पराभक्ति परम कल्याणसाधिनी है ॥८०॥

निरोधे चित्तवृत्तीनां संयमे च मयिस्थिरे।
विहितो य उपायोऽति स एव योग उच्च्यते ॥८१॥

चित्तवृत्तियों के निरोध के लिये और मुझमें उनका स्थिर संयम करने के लिए जो विहित उपाय है, वही योग के नाम से अभिहित होता है, ॥८१॥

योगोऽत्र शास्त्रे विज्ञेयः प्राधान्येन चतुर्विधः।
बुभुत्सवो धीरचित्ताः ज्ञातव्यं श्रूयतां स्फुटम ॥८२॥

शास्त्रों में योग प्रधान रूप से चार प्रकार का होता है। आप धीर प्रकृति और ज्ञान के इच्छुक हैं, इस कारण आपको जो जानना है, वह स्पष्ट रूप से सुनिये ॥८२॥

महर्षयो मन्त्रयोगो हठयोगस्तथा शुभः ।

लययोगो राजयोगो ज्ञेया ते प्रयत्नानः ॥८३॥

हे महर्षियो! मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग यह प्रयत्न पूर्वक जान लेने चाहिए ॥८६॥

संसारे रागवन्तोऽपि मत्सनन्यस्तमानसा: ।
भावपूर्णो मन्त्रयोगस्तेषां परमभद्रद:॥ ८४ ॥

संसार में अनुराग होने पर भी जिन्होंने अपने चित्त मुझमें लगा दिये हों, उन्हें भावपूर्ण मन्त्रयोग परम कल्याणकारी है ॥८४॥

विषयासक्तिशुन्यानामपि येषां वपुः स्वत:।
विषयीय ध्रुवं तेषां हठयोगो हितप्रद: ॥८५॥

जो विषयों में आसक्ति से रहित हैं परन्तु जिनका शरीर विषयी के समान हो, उनको हठयोग हितकारी है ॥८५॥

येषां मनः शरीरञ्च योगोपयोगिनी सदा।
लययोगक्रिया तेषामनुकूला विशेषतः ॥८६॥

जिनका शरीर और मन योग के उपयोगी हो उनके लिये सदा लययोग की क्रिया विशेष अनुकूल होती है ॥८६॥

त्रिषु मन्त्रादियोगेषु तेषु मुख्याधिकारिणाम।
राजयोगाधिकारे हि घटते मम दर्शनम ॥८७॥

उक्त मन्त्रयोग हठयोग और लययोगों में से किसी एक में भी जो मुख्य अधिकारी हों, वही राजयोगके अधिकारी हैं और इसी अधिकार में उन्हें मेरा दर्शन होता है ॥८७॥

मद्दर्शननिदानत्वात्प्रधानत्वाच्च सर्वतः।
योगानां परमत्वाच्च राजयोग इतीर्य्यते ॥८८॥

मेरे दर्शन कराने प्रधान कारण स्वरूप है, और सब योगों में श्रेष्ठ है, इसी कारण इसे राजयोग कहते हैं ॥८८॥

मद्भक्ताः साधका सम्याग राजयोगाधिकारिण:
मत्स्वरूपं विजानन्तो जीवन्मुक्ता भवन्ति ते ॥८९॥

राजयोग के उत्तम अधिकारी साधकरण मेरे स्वरूप को जानकर जीवन्मुक्त हो जाते हैं ॥ ८९॥

इति श्रीमूर्यगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे सूर्यऋषि सम्वादे ब्रह्माणोऽधिभूत दर्शनं – योगविज्ञान वर्णनं नाम षष्ठोऽध्यायः।

इस प्रकार श्रीसूर्यगीतोपनिषद् के ब्रहाविद्या सम्बन्धी सूर्य ऋषि संवादात्मक योगशास्त्र का ब्रह्म के आदिभूत दर्शन और योग विज्ञानं वर्णन नामक षष्ठ अध्याय समाप्त हुआ।

॥ॐ सवित्रे नमः ॥

॥श्री सूर्य गीता ॥

॥ अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

जीवन्मुक्त लक्षण निरुपणं : जीवन्मुक्त लक्षण निरुपण

महर्षय ऊचुः ॥१॥

महर्षि गण ने कहा ॥१॥

जगद्गुरो! विश्ववन्द्य ! हे देव ! भुवनेश्वर! ।
कर्मिश्रेष्ठस्य तु ब्रूया जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥२॥

हे संसार के वन्दनीय! हे जगद्गुरो! हे चतुर्दश भुवनों के ईश्वर ! हे देव! अब कर्मिश्रेष्ठ जीवन्मुक्तों का लक्षण कहिए ॥२॥

यत्स्वरूपं सुविज्ञाय कृपातसत्व हे गुरो!।
यतितुं प्रभविष्यामो वयमसमै पिपासव: ॥३॥

जिसका स्वरूप आपकी कृपा से जानकर हे गुरो! उसके पिपासु हम लोग उसमें प्रयत्नशील होंगे ॥३॥

सूर्य उवाच ॥४॥

श्रीसूर्य देव बोले ॥४॥

श्रृणुध्वं संप्रवक्ष्यामि कर्मिश्रेष्ठस्य लक्षणम्।
यच्छ्रुत्वा नैव भूयोऽन्यच्छ्रोतव्यमवशिष्यते ॥५॥

अब मैं कर्मिश्रेष्ठ का लक्षण कहता है, जिसे सुनकर आप लोगों के लिए कुछ भी सुनना शेष नहीं रहेगा। ॥५॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो वृद्धिरेव।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥५॥

पृथ्वी, जल, वायु आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, मेरी प्रकृति इस आठ प्रकार से विभक्त है ॥६॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं वित मे परां।
जीवभूतां हि मुनयः ययेदं धार्यते जगत ॥७॥

हे मुनिगण ! उक्त प्रकृति अपरा (निकृष्टा) है, इसकी अपेक्षा परा (उत्कृष्टा) और एकजीव स्वरूपा (चेतनामयी) मेरी प्रकृति है, उसको जानना चाहिये, जो प्रकृति इस जगत की रक्षा करती है ॥७॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरूच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्व हेतुरुच्यते ॥८॥

कार्य और कारण इन दोनों के कर्तृत्व में प्रकृति ही हेतु कही जाती है और पुरुष सुखदुःखादि के भोक्तृत्व में हेतु कहा जाता है। ॥८॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङक्ते प्रकृतिजान गुणान।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥९॥

पुरुष प्रकृतिस्थ होकर प्राकृतिक सकल गुणों का भोग करता है, सत और असत् योनि में पुरुष के जन्म का कारण सत्वरजस्तमो गुणों से संग है ॥९॥

उपद्रष्टाऽनुमन्ता र भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाऽप्युक्तो देहेऽस्मिन पुरुषः परः ॥१०॥

इस प्रकृति के कार्यस्वरुप शरीर में वर्तमान रहकर भी पुरुष प्रकृति के कार्यस्वरुप शरीर से भिन्न है अर्थात् प्रकृति के गुणों से युक्त नहीं है, इस कारण वह उपद्रष्टा (साक्षिमात्र) अनुमन्ता (अनुग्राहक), भर्ता (भरणकर्ता) महेश्वर (ब्रह्मादि के भी अधिपति) और परमात्मा (अंतर्यामी) भी कहे गये हैं ॥१०॥

य एवं वेति पुरुषं प्रकृतिञ्च गुणै सह।
ज्ञानविज्ञानयुक्तो हि स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते ॥११॥

जो इस प्रकार पुरुष का ज्ञान प्राप्त कर लेता लेता है और गुणों के सहित प्रकृति को भी जान लेता है तथा ज्ञान विज्ञान से युक्त है, उसी को कर्मिश्रेष्ठ कहते हैं ॥११॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१२॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।

मय्यर्पितमनोबुद्धिः स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते ॥ १३ ॥

जो समस्त प्राणिमात्र का अद्वेष्टा, मैत्र और कृपालु हो, जो ममताहीन, निरहंकार, सुखदुःख में समानता जाननेवाला, क्षमाशील, सदा संतुष्ट, संयमचित्त, योगी, मुझ में स्थिर लक्ष्य रखनेवाला और बुद्धि का समर्पण करनेवाला हो, वही कर्मिश्रेष्ठ है ॥१२-१३॥

यस्य देहः स्वकीयोऽपि सर्वथा न प्रतीयते ।
नेन्द्रियाणि च सर्वाणि स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते ॥१४॥

जिसे अपने शरीर और इन्द्रियों से सर्वथा प्रीति नहीं होती, वह कर्मिश्रेष्ठ है। ॥ १४ ॥

प्रजहाति यदा कामान्ससर्वान्विप्रा मनोगतान ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते ॥१५॥

हे विप्रो! परमानन्द स्वरूप आत्मा में स्वयं तुम संतुप्त होकर जब योगी मानसिक सकल कामनाओं का परित्याग करता है, तब वह कर्मिश्रेष्ठ कहा जाता है ॥१५॥

यस्य प्राणाः प्रशान्तास्युर्मनआदीनि च स्वयम।
अव्यक्तान्तानि सर्वाणि स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते १६॥

जिसके प्राण और मनादि स्वयं प्रशान्त तथा अव्यक्तभाव में स्थित हों, वह कर्मिश्रेष्ठ है ॥१६॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगस्पृहः ।

वीतरागभयक्रोधः स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते ॥१७॥

जो दुःख प्राप्त होने पर अनुद्विग्नचित्त और सुख प्राप्त होने पर स्पृहाशून्य हो एवं जो अनुराग भय और क्रोधशून्य हो, वह कर्मिश्रेष्ठ कहा जाता है॥१७॥

नाऽहंभावश्च यथाऽस्ति नेदंभावश्च कुत्रचित्त।
सर्वद्वन्द्वविहीनात्मा स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते ॥१८॥

जिसे न तो अहंभाव हो और न इदंभाव हो और जिसकी आत्मा समस्त प्रकार के द्वन्हों से रहित हो वह कर्मिश्रेष्ठ है ॥१८॥

प्राग्बद्धोऽहं विमुक्तोऽवत्येवं यस्य स्मृतिन च ।
नित्यमुक्तस्वरूपः सन् स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते ॥ १९ ॥

मैं पहले बद्ध था, अब मुक्त हो गया, इस तरह का जिसे स्मरण न हो और जो नित्य मुक्तस्वरूप में स्थित हो वह कर्मिश्रेष्ठ है ॥१९॥

यः सर्वत्राऽनभिस्नेहस्तत्तत्राप्य शुभाशुभम् ।
नाऽभिनन्दति न द्वेष्टि स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते ॥२०॥

जो समस्त विषयों में ममतारहित है और उन उन शुभाशुभों को प्राप्त होकर आनन्द अथवा विषाद नहीं करता, उसको कर्मिश्रेष्ठ कहते हैं ॥२०॥

विदेहमुक्तो यः प्रोक्तो वरिष्ठ ब्रह्मवेदिनाम् ।
अरूपो नष्टचित्ताऽसुः स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते ॥२१॥

जो विदेहमुक्त और ब्रह्मवादियों से श्रेष्ठ है तथा जो रूप सम्बन्धरहित है और जिसका चित्त एवं प्राण स्वरुप शून्य हो गया हो वह कर्मिश्रेष्ठ है ॥२१॥

यदा संहरते चा यं कर्मोऽगांनीव सर्वश:।
इन्द्रियाणीन्द्रियाऽर्थेभ्य स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते ॥२२॥

जब हम इन्द्रियों के समस्त विषयों से इन्द्रियों को, कछुआ जैसे अपने अंगों को अति संकुचित करता है, वैसे सर्वदा प्रत्याहार करता है, तब वह कर्मिश्रेष्ठ कहा जाता है ॥२२॥

कर्माणि यस्य सर्वाणि दालनात्रपजाने।
अभवन्नुपशान्तानि स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते ॥२३॥

तीन प्रकार की वासना से उत्पन्न होने वाले सब कर्म जिसके शान्त हो गये हों, वह कर्मिश्रेष्ठ है ॥२३॥

मुनयो यततश्चाधि शुरूप विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मन: ॥२४॥

हे मुनियों! प्रमत्त इन्द्रिय गण मोक्ष में प्रयत्नशील विवेकी पुरुष के मन को भी बलपूर्वक हरण करते है ॥२४॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त: आसीत मत्पर:।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते ॥२५॥

योगी उन इन्द्रियों को संयत करके मत्परायण होकर स्थित रहते हैं। अतः इन्द्रियाँ जिसके वश में हैं। वह कर्मिश्रेष्ठ कहा जाता है। ॥२५॥

कर्माणि कर्मभिः शुद्धैरशुद्धान्युपमृद्य यः
सकर्मब्रह्ममात्रोऽभूत् स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते ॥२६॥

शुद्ध कर्मों से अशुद्ध कर्मों का नाश करके जो केवल कर्मब्रह्म हो गया हो अर्थात् जो जैव कर्मों से रहित होकर केवल ऐश और सहज कर्मों में रत हो, वह कर्मिश्रेष्ठ है। ॥२६॥

ज्ञानिनामपि यः श्रेष्ठः सप्तमीं भूमिकां गतः।
उपासकानां यश्चैकः स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते ॥ २७॥

सातवीं भूमि में पहुँचने के कारण जो ज्ञानियों मे श्रेष्ठ और उपासना में अद्वितीय हो वही कर्मिश्रेष्ठ है ॥२७॥

यः सर्वः पीडितोऽपि साचिकादमिपूजन
सुखदुःखे न यस्य स्तः स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते ॥२८॥

जो समस्त जनों द्वारा पीड़ित अथवा पूजित होने पर भी निर्विकार रहे और जिसके सुख दुःख छूट गये हों, वह कर्मिश्रेष्ठ है ॥२८॥

यः सर्व्वैर्मनुजैः पूज्यो यः सर्वैश्च सुरासुरै
ब्रह्मविष्णुशिवैर्यश्च स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते ॥२९॥

जो सब मनुष्यों का, सब देवताओं का, सब दानवों का तथा ब्रह्मा विष्णु, महेश्वर का भी पूजनीय हो, वह कर्मिश्रेष्ठ है ॥२९॥

त्यकत्त्वा कम्मर्माणि सर्वाणि स्वातमात्रेण तिष्ठत:
कथं कर्मित्वमित्येवं शंक्स्तां मा महार्षयः ॥३०॥

सब कर्मों को छोड़कर जो केवल आत्मा राम हो रहा हो, वह कर्मो कैसे हो सकता है? है महर्षियों ! इस प्रकार की शङ्का मत करो ॥३०॥

कर्मणां फलमेषा हि स्वात्ममात्रेण संस्थिति:
अतः सफलकर्मेप कर्मिश्रेष्ठो भवेद ध्रुवं ॥३१॥

आत्माराम पद प्राप्त करना ही कर्मों का फल है। अतः जो सफल कर्मा हो, यह निसंदेह कर्मिश्रेष्ठ है ॥३१॥

ज्ञानेन ज्ञायते यद्वा उपास्त्या चोपलभ्यते।
तत् स्थिरं प्राप्यतेऽनेन कर्मणाऽतोऽस कर्ममिता ॥३२॥

जो निश्चित पद् ज्ञान से जाना जाता है अथवा उपासना से प्राप्त होता है, वही कर्म से भी मिलता है। इसलिये ऐसे साधक की कर्ममिता सिद्ध होती है ॥३२॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथ:।
सर्वारम्भपरित्यागी स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते॥३३॥

जो समय विषयों में निस्पृह, शुचि, अनलस, उदासीन, चिन्ता शून्य और संकल्प विकल्प शून्य हो, वह कर्मिश्रेष्ठ है। ॥३३ ॥

यो न हृष्यति न द्वष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।

शुभाशुभपरित्यागी स कर्मिश्रेष्ठ उच्यते॥३४॥

जो प्रिय वस्तु पाकर हृष्ट नहीं होता है और अप्रिय वस्तु पाकर द्वेष नहीं करता, इष्ट वस्तु के नाश में जो शोक नहीं करता है और अप्राप्त वस्तु की आकांक्षा नहीं करता है एवं जो पुण्य पाप का परित्याग करने वाला है, वह कर्मिश्रेष्ठ कहा जाता है ॥३४॥

देहेऽस्मिन् वर्तमानेऽपि देहस्मृतिविवर्जनात।
विदेहमुक्त इत्युक्तः कथं कर्मीति चोच्यते ॥३५॥

शरीर के रहते हुए देहाध्यास छूट जाने के कारण जो विदेहमुक्त हो जाता है, वह कर्मी कैसे हो सकता है, वह कहता हूँ॥३५॥

देहविस्मृतिमत्त्वेऽपि कर्मदेहे स्थितत्वत:
अन्यदृष्ट्याऽस्य देहित्वात् कर्मित्वमुप्पद्यते ॥३६॥

देह की विस्मृति होने पर भी कर्म देह में उसकी स्थिति रहने के कारण दूसरी दृष्टि से उसका देहित्व बना ही रहता है और इस कारण उसे कर्मी कहने में कोई हानि नहीं है॥३६॥

देहस्थत्वादपूर्णः स्यादिति शंक्य न किञ्चन।
तडागमग्नकुम्मस्थं जलं पूर्ण हि दृश्यते ॥३७॥

देही होने के कारण वह अपूर्ण है, ऐसी भी शंका करने का कोई कारण नहीं है क्योंकि तालाब में डूबे हुए घडे का पानी पूर्ण ही दिखाई देता है ॥३७॥

प्रारब्धकर्ममुक्तोऽपि भोगान्मुक्तोऽपिचाऽखिलात।
धर्मकार्य स्थितः कर्मी देहे स्यद्भोगसाधने ॥३८॥

प्रारब्धकर्म तथा सम्पर्ण भोंगों से मुक्त होने पर भी भोग के साधनभूत शरीर में केवल धर्म कार्य करता हुआ ही स्थित रहता है-अतः वह कर्मी है ॥३८॥

साधने सति देहेऽपि साध्यो भोगो न सिध्यति।
देहविस्मृतिमत्वेन देहहीनलमत्वतः ॥३९॥

भोग के साधन रूप शरीर के विद्यमान रहने से भी उससे भोग सिद्ध नहीं होते क्योंकि कर्मी को देह की विस्मृति हो जाने से वह विदेह हो जाता है ॥३९॥

आहिताऽग्निलसंसिद्धयै ज्योतिष्टोगे कृतेऽपि च ।
यथा न स्वर्गमामोति निष्कामः पुरुर्षभः ॥४०॥

इसका उदाहरण यह है कि, अग्निहोत्र की सिद्धि के लिए निष्काम कर्मयोगी अग्निष्टोम करे, तो भी उसे स्वर्ग में जाना नहीं पड़ता ॥४०॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यात्मसन्धित्रय कृताऽमृतः
सर्वसन्ध्यादिरहितः संधिर्व सन्धिभिर्वन्द्यते सदा ॥४१॥

ओ जागृत, स्वप्न और सुषुति इन तीनों सन्धियों में एकरूपता प्राप्त कर अमर हो चुका है, वह सब सन्धियों से रहित होकर संधियों का ही वन्दनीय हो जाता है ॥४१॥

यः सर्वकर्मिभिर्वन्द्यो नित्यं सर्वैरकर्मिभिः ।
स कर्मिप्रवरोऽकर्मिप्रवरश्चेति कथ्यते ॥४२॥

जो समस्त कर्मी और अकर्मियों के लिये वन्दनीय हो, वही सच्चा कर्मिश्रेष्ठ और अकर्मिश्रेष्ठ अर्थात कर्म रहित कहा जा सकता है ॥४२॥

सर्वसाम्यमुपेतस्य स्वात्मारामस्य योगिनः
सहस्रशः कृतैः किं वा वन्दनैर कृतैश्च वा ॥४३॥

जिसके लिए सभी समान हैं, उस आत्माराम योगी को कोई सहस्रों प्रणाम करे या न करे दोनों ही इसलिये समान है ॥४३॥

देहादिषु विकारेषु स्वीयत्वं स्वत्वपूर्वकम
विहाय नित्यनिष्ठामिः स्वमात्रः स विराजते ॥४४॥

देहादि में और उनके विकारों में जिसने अपने स्वत्व का त्याग कर दिया हो, वह निष्ठाओं से केवल स्वरूप में ही सदा विराजमान रहता है ॥४४॥

इन्द्रियार्थैविमूढानां दुष्कमित्वं निगद्यते।
तैरपेतः सुकर्मेष विदेह इति कथ्यते ॥४५॥

इन्द्रियों के विषयों से जो मोहित है, उन्हें कुकर्मी कहते हैं। उन कर्मों को छोडकर जो सुकर्मा बन गया हो, वही विदेह मुक्त है ॥४५॥

यः सर्वद्वन्द्वनिर्मुक्तः सर्वत्रिपूटिवर्जितः ।
सर्वाऽवस्थाविहीनः स विदेह इति कथ्यते ॥४६॥

सब प्रकार के द्वन्द, समस्त त्रिपुटि और समग्र अवस्थाओं से जो अतीत हो, वही विदेहमुक्त है ॥४६॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानाऽपमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥४७॥

तुल्यनिन्दास्तुतिौनी सन्तुष्टो येन केनचित ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्विदेह इति कथ्यते ॥४८॥

जो शत्रु और मित्र में एवं मान और अपमान में एकरूप, शीत उष्ण सुख और दुःख में विकार हीन, आसक्ति शून्य, निन्दा और प्रशंसा में समभावापन्न, मौनी, जो कुछ प्राप्त हो उसी से सन्तुष्ट, वासस्थानहीन और स्थिरचित व्यक्ति है, वह विदेह मुक्त है-ऐसा कहा जाता है ॥४७-४८॥

लौकिकं वैदिकं कर्म सर्व यस्मिन क्षयं गतं।
यस्मान्नैवाणुमात्रञ्च विदेह इति कथ्यते ॥४९॥

लौकिक और वैदिक सभी कर्म जिसके क्षय को प्राप्त हो गये हो, अणुमात्र भी शेष नहीं रह गये हों, वही विदेहमुक्त है ॥४९॥

यस्येन्द्रियाणि सर्वाणि न चलन्ति कदाचन।
भित्तिस्थचित्राङ्गानीव निदेह इति कथ्यते ॥५०॥

जिसकी समस्त इन्द्रियां कभी चञ्चल नहीं होती और जो दीवार पर लिखे हुए चित्रों की तरह सदा निश्चल रहें, वही विदेहमुक्त है।॥५०॥

आत्मानं सत्यमद्वैतं केवलं निर्गुणामृतम।
सम्पश्यतः सदा स्वाऽन्यविकास्फुरण ॥५१॥

जो निरन्तर अपने को सत्य, अद्वैत, केवल, निर्गुण और अमृतस्वरूप देखता हो, उसको अपने से भिन्न विकारों का स्फुरण ही नहीं होगा ॥५१॥

आदिमध्यान्तरहितचिदानन्दस्वरूपिणः।
स्थितप्रज्ञस्य को बाघः शरीरेण स्वयोगिनः ॥५२॥

जो आत्मा में रममाण, आदि मध्य और अन्त से रहित, सचिदानन्दस्वरूप स्वयं स्थित प्रज्ञ हो, उसको शरीर रहने से ही या बाधा पहुँच सकती है।॥५२॥

कर्माणि कर्मणा त्यक्त्वा ब्रह्मणा ब्राह्मणि स्थितः ।
कर्मणा शर्म सततं सम्प्राप्तस्य विराजते ॥५३॥

कर्म से कर्म को छोड़कर ब्रह्मा के द्वारा ब्रह्म में ही जो स्थित है। वह कर्म से अखण्ड कल्याण को प्राप्त होकर विराजमान रहते हैं ॥५३॥

बुद्धस्तैक्ष्ण्यञ्च मौढ्यञ्च यस्य नैवाऽति किञ्चन्।
बुद्धेः पारंगतस्सोऽयं प्रबुद्धश्शोभतेतराम ॥५४॥

जिसकी बुद्धि में न तीक्ष्णता है और न मूढता ही है, वह बुद्धि के परे रह कर सदा प्रबुद्ध (जागृत) अवस्था में शोभा प्राप्त करता है ॥५४॥

मनस्तथैव संलीनं चितीव लवणं जले।

एवं निरन्तरात्मीयनिष्ठया सोऽद्वयोऽभवत् ॥५५॥

जिसका मन चित्सत्ता में उस प्रकार लीन हो। जिस प्रकार जल में नमक लीन हो जाता है, वह निरन्तर आत्मीय निष्ठा से अद्वैतभावमय हो गया है ऐसा जानना चाहिये ॥५५॥

समनस्कान् महद्दुःखममनस्कस्यं तत्कुतः।
समनस्को हि संकल्पान कुरुते दुखकारिणः ॥५६॥

मन के अस्तित्व से ही दुःख होता है क्योंकि मन ही दुःखकारी संकल्प करता है। जो मानस रहित है, उसे दुःख छूता तक नहीं ॥५६॥

प्रारब्धकर्मजं दुःखं जीवनमुक्तस्य कथ्यते ।
कर्मत्रयविहीनस्य विदेहस्य कथन्नु तत ॥५७॥

जीवन्मुक्त को प्रारब्ध कर्मों से उत्पन्न होने वाले दुःख भोगने पड़ते हैं परन्तु कर्मत्रय विहीन विदेह पुरुष के लिये ऐसा कैसे सम्भव है ॥५७॥

कर्म कर्तव्यमिति वा न कर्तव्यमितीह वा।
यदि मन्येत वैदेही न मुक्तिं प्राप्तवास्तुं सः ॥५८॥

अमुक कर्म करना है अथवा अमुक नहीं करना इस प्रकार का विधि निषेध जो मानता हो, उसे विदेह मुक्ति प्राप्त नहीं हुई, ऐसा जानना चाहिये ॥५८॥

समाधिर्वाऽय कर्तव्यो न कर्तव्य इतीह वा।
यदि मन्येत वैदेहीं न मुक्तिं प्राप्तवास्तुं सः ॥५९॥

समाधि करना है अथवा नहीं करना है, इसका जो विचार करे, उसे विदेह मुक्ति प्राप्त नहीं हुई है, ऐसा जानना चाहिये ॥५९॥

पूर्व बद्धोऽधुना मुक्तोऽस्यहमित्येव बन्धनात।
यदि मन्येत वैदेहीं न मुक्तिं प्राप्तवास्तुं सः ॥६०॥

पहले मैं बद्ध था और अब बन्धन से मुक्त हुआ हूँ ऐसा जो माने, उसे विदेहमुक्ति प्राप्त नहीं हुई है ॥६०॥

पूर्वमष्यभवन मुक्तो मध्ये भ्रान्तिस्तु बन्धवत् ।
यदि मन्येत वैदेहीं न मुक्तिं प्राप्तवास्तुं सः ॥६१॥

पहले मैं मुक्त ही था, पर बीच में भ्रम के चक्कर में पड़कर बद्ध की तरह अपने को समझने लगा था, ऐसा जो माने, वह विदेह्मुक्त नहीं कहा जा सकता ॥६१॥

बन्ध्यापुत्रादिवत्सर्वं मयभूदसदित्यति ।
यदि मन्येत वैदेही न मुक्तिं प्राप्तवास्तुं सः ॥६२॥

बन्ध्यापुत्र की तरह मुझमें सब कुछ असत् हो गया-ऐसा जो माने, उसे विदेहमुक्ति प्राप्त हुई है ॥६२॥

आविद्यकं तमो ध्वस्तं स्वप्रकाशेन वा इति।
यदि मन्येत वैदेही न मुक्तिं प्राप्तवास्तुं सः ॥६३॥

स्वप्रकाश से अविद्या के अन्धकार का नाश हो गया है, यह जिसकी भावना हो जाय, वह विदेहमुक्त नहीं है ॥६३॥

स्वप्नेऽपि नाऽहंभावोऽस्ति मम देहेन्द्रियादिषु।
यदि मन्येत वैदेही न मुक्तिं प्राप्तवास्तुं सः ॥६४॥

देह और इन्द्रियादि के विषय में मुझे अहंभाव नहीं है, ऐसा जो स्वप में भी माने उसे विदेह मुक्ति प्राप्त नहीं हुई है ॥६४॥

अरूपनष्टमनसो विदेहत्वं प्रकीत्तर्यते।
तत् कथं मन्यमानस्य यत्किचित् स्यादनात्मनः ॥६५॥

रूप और मन जिस का नष्ट हो गया हो, वही सच्चा विदेहमुक्त है। जो केवल चिन्तता मात्र से ही ऐसा मानता है कि मैं विदेहमुक्त हूँ, ऐसे अनात्मा को भला विदेह पद कैसे प्राप्त हो सकता है ॥६५॥

मनो नश्यति निःशेष मननस्य विसर्जनात ।
अमनस्कस्वभावं तत्पदं तस्याऽवशिष्यते ॥६६॥

मनन के त्याग से ही मनोनाश होता है और तब विदेहमुक्ति के अधिकारी के लिए अमन्सक स्वभाव मात्र ही अवशिष्ट रहता है ॥६६॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पावर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥६७॥

जिसके सब कार्यारम्भ कामसंकल्प रहित हैं ज्ञानाग्नि से दग्ध कर्मा उस महापुरुष को विज्ञ जन पण्डित (विदेहमुक्त) कहते हैं ॥६७॥

मननेन विनिश्चित्य वैदेही मुक्तिमात्मन:।
नैष्कम्यसिद्धि वदतां का तृप्तिरविवेकिनाम ॥६८॥

जो व्यक्ति मन से ही अपनी विदेहमुक्ति हुई है-ऐसा समझकर नैष्यकर्म सिद्धि की बातें केवल मुख से कहते हैं, ऐसे अविवेकियों की तृप्ति कैसे हो सकती है ॥६८॥

स्वानुभूति बिना ययत्कुर्वन्ति भुवि मानवा:।
तत्तत्सर्वं वृथैव स्यान्मरुभूमौ कृषिर्यथा ॥६९॥

स्वानुभव के विना पृथ्वी में मनुष्य जो कुछ करते हैं, वह मरुभूमि में खेती करनेके समान व्यर्थ हो जाता है ॥६९॥

स्वानुभूत्यर्थकं कर्म निकृष्मपि सर्वथा।
उत्तमं विबुधैः श्लाध्यं नाऽत्र कश्चन संशय ॥७०॥

स्वानुभव से युक्त अर्थात् अध्यात्म लक्ष्ययुक्त होकर जो कर्म किया खाता है, वह निकृष्ट कर्म भी देवताओं को अत्यन्त प्रिय होता है। इसी कोई सन्देह नहीं है ॥७०॥

यस्तु वश्येन्द्रियं शान्त निष्कामं सदगुरु सदा
स्वात्मैकरसिकं मुक्तयै स धीमानुपगच्छति ॥७१॥

जिसके इन्द्रियाँ वश में हों, जो शान्त हो, जो निष्काम हो, जो आत्माराम हो, ऐसे सद्गुरु के पास मुक्ति की इच्छा से जो जाता है, वही बुद्धिमान् है ॥७१॥

काम्यकर्मणि चोत्सृज्य निष्कामो यो मुमुक्षया
शान्त्यादिगुणसंयुक्तं गुरुं प्राप्त: स मुच्यते ॥७२॥

काम्य कर्मों को छोड़कर जो निष्काम हो गया है और जो शान्ति आदि गुणों से युक्त सद्गुरु को मुक्ति की इच्छा से प्राप्त हुआ है, वह मुक्त होता है। ॥७२॥

ज्ञानाभिमानी कश्चित्तु गुरुभक्तिं विना क्वचित।
रहस्यमस्या गीतायाः सम्यग ज्ञातुं न शक्नुयात ॥७३॥

गुरुभक्तिहीन कोई भी साधक इस गीता के पाठ करने मेरे सान्निध्य को नहीं प्राप्त होगा ॥७४॥

गुरुभक्तिविहीनस्तु साधको नैव कश्चन
अस्याः पाठेन गीतायाः मुत्सान्निध्यं प्रलपस्ते ॥७४॥

कोई भी ज्ञानाभिमानी कहीं भी गुरुभक्ति के सिवा इस गीता के रहस्य को अच्छी रीति से नहीं समझ सकता है ॥७३॥

मन्त्ररूपेऽपि शब्देऽसा गुरुभक्ति विनानया।
सूर्ययागेऽनुष्ठितेऽपि साधकः सफलो न हि ॥७५॥

इस गीता के शब्द मंत्ररूप होने पर भी गुरु भक्ति के बिना इसके द्वारा अनुष्ठान किया हुआ सूर्य याग साधक को सफलता नहीं दे सकता ॥७५॥

कर्म वोपासना वाऽपि ज्ञानं वा भवति ध्रुवं।
तत्र सर्वेषु वर्त्तेत गुरुभक्ते: प्रधानता ॥७६॥

कर्म उपासना और ज्ञान इन में से कोई भी हो, इन सभी में गुरु भक्ति की प्रसन्नता है ॥७६॥

कल्याणायैन सर्वेषां गीतेयं श्राविता मया।
एतां प्रचार्य सर्वत्र यूयं कुरुत मगलम ॥७७॥

सबके कल्याण के लिये यह गीता मैने आपकी सुनायी है। इसका पूर्ण रूप से प्रचारकर आप जन साधारण का मङ्गल करें ॥७७॥

गुरुश्रद्धाविहीनेभ्यो नास्तिकेभ्यश्च सर्वथा
अविश्वासाऽपवित्रेभ्यो न देयैषा कदाचन ॥७८॥

जो गुरुभक्ति से हीन, नास्तिक और अविश्वास से अपवित्र हों, उनको इसका उपदेश कभी न दिया जाए ॥७८॥

गुरौ शास्त्रे श्रद्दधद्भय: विरक्तेभ्यश्च सर्वथा।
प्रारब्धवदभ्यो भक्तेभ्य: प्रदेयेयं प्रयत्नतः॥७९॥

गुरु और शास्त्रों में जिसकी श्रद्धा हो, जो सर्वथा विरक्त हो और जो भाग्यवान् भक्त हो, उसको इसका उपदेश अवश्य करना चाहिये॥७९॥

सम्यगध्ययनादस्या सातापत्रयविमुक्तित:।
कैवल्यमधिगच्छन्ति साधकाः शान्तमानसाः ॥८०॥

इसका अच्छी तरह अध्ययन करने से तीनों ताप छूट जाते हैं और फिर वह शान्तचेता साधक कैवल्य को प्राप्त करता है। ॥८०॥

शृण्वतां पठतां वैतां श्रद्धया प्राणिनां हितां।
आधयो व्याधयः सर्वे निवर्तन्ते ध्रुवं ध्रुवं ॥८१॥

श्रद्धा के साथ इस कल्याणकारिणी गीता का पाठ करने से अथवा सुनने ही से प्राणिमात्र की आधि व्यधि छूट जाती है, यह निश्चय है ॥८१॥

पठनात् पाठनाद भक्त्या श्रवणादपि सर्वथा।
रोगीरोगात्प्रमुक्तः सन् शान्तिमाप्नोति भक्तिमान् ॥८२॥

भक्ति भाव से इसका पठन पाठन या श्रवण करने से भक्ति मान् रोगी रोग से मुक्त होकर शान्तिलाभ करता है ॥८२॥

आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी त्रय एते सदाशयाः ।
पठित्वा पाठयित्वेमां श्रुत्वा स्युः सफलाशयाः ॥८३॥

आर्त्त, जिज्ञासु और अथार्थी ये तीनों सदाशय इसको पढ़कर, पढ़ाकर, अथवा सुनकर सफलमनोरथ हो सकते हैं ॥८३॥

ज्ञानी भक्तो ममैतस्याः श्रवणात्पठनादपि।
पाठनादपि मां द्रष्टुं सदैव भवति प्रभुः ॥८४॥

ज्ञानी भक्त भी मेरी इस गीता का श्रवण कर, पढ़कर अथवा पढ़ाकर मुझको देखने समर्थ हो सकते हैं ॥८४॥

पाठेनाऽस्था मन्त्रतश्च सूर्ययागे ह्यनुष्ठिते।
ज्वरादीनां हि सर्वेषां रोगाणां जायते यः ॥८५ ॥

इस गीताके पाठ से और इस गीता के शब्दरूप मन्त्रों से सूर्ययाग का अनुष्ठान करने पर ज्वरादि सब रोगों का क्षय हो जाता है ॥८५॥

इयं हि गीता रोगाणां मृतांजीवनी ध्रुवा।
अनाश्या अपि रोगा हि नश्यन्त्यस्याः प्रसादतः ॥८६॥

यह गीता रोगों के लिये मृतसंजीवनी है, असाध्य रोग भी इस गीता के प्रसाद से नष्ट होते हैं।॥८६॥

अस्याः प्रसादतो बाह्या: नश्यन्ति व्याधयो यथा।
तथान्तवर्याधयो नूनं विराय यान्त्यलं लयम् ॥८७॥

इसके प्रसाद से जैसे बहिर्व्याधियां नाश होती हैं, वैसे ही अंतर्व्यधियाँ भी निर्मूल हो जाती हैं ॥८७॥

चतुर्भिराश्रमैर्वर्णैरस्याः पाठेन सर्वथा।
सन्ततं सर्वकल्याणं लभ्यते नाऽत्र संशयः ॥८८॥

चारों आश्रम और चारों वर्ण इसके पाठ करने से निरन्तर समस्त कल्याण को प्राप्त करते हैं। यह निस्सन्देह है ॥८८॥

उपासकेभ्यो गीताया अस्या दानेन भक्तित:।
धर्मार्थकामा लभ्यन्ते निरायासं प्रदातृभिः ॥८९॥

उपासकों को इस गीता के दान करने से दाता को निरायास धर्मार्थ और काम प्राप्त होते हैं ॥८९॥

पठनाच्छवणादस्या मननात् पाठनादपि ।
मुमुक्षवो निरायासं लभन्ते मोक्षव्ययम ॥९०॥

इस गीता के पठन श्रवण और मनन से और पाठन से भी मुमुक्षु निरायास अव्यय मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥९०॥

त्रितापहारिणी सत्यमेषाऽभ्युदयकारिणी।
निःश्रेयसकरी नूनं ब्रवीहमसंशयम् ॥९१॥

यह तीनों तापों को हरण करनेवाली, इहलोक में अभ्युदयकारिणी और परलोक में निःश्रेयस पद प्रदान करने वाली है। यह जो मैं कहता हूँ, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥९१॥

इति श्रीमूर्यगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे सूर्यऋषि सम्वादे जीवन्मुक्त लक्षण निरुपणं नाम सप्तमोऽध्यायः।

इस प्रकार श्रीसूर्यगीतोपनिषद् के ब्रहाविद्या सम्बन्धी सूर्य ऋषि संवादात्मक योगशास्त्र का जीवन्मुक्त लक्षण निरुपण नामक सप्तम अध्याय समाप्त हुआ।

॥ श्री सूर्य गीता समाप्त ॥

॥श्री सूर्यदेव चालीसा॥

॥दोहा॥

कनक बदन कुण्डल मकर, मुक्ता माला अङ्ग,
पद्मासन स्थित ध्याइए, शंख चक्र के सङ्ग॥

॥चौपाई॥

जय सविता जय जयति दिवाकर, सहस्त्रांशु सप्ताश्व तिमिरहर॥
भानु पतंग मरीची भास्कर, सविता हंस सुनूर विभाकर॥१॥

विवस्वान आदित्य विकर्तन, मार्तण्ड हरिरूप विरोचन॥
अम्बरमणि खग रवि कहलाते, वेद हिरण्यगर्भ कह गाते॥२॥

सहस्त्रांशु प्रद्योतन, कहिकहि,मुनिगन होत प्रसन्न मोदलहि॥
अरुण सदृश सारथी मनोहर, हांकत हय साता चढ़ि रथ पर॥३॥

मंडल की महिमा अति न्यारी, तेज रूप केरी बलिहारी॥
उच्चैःश्रवा सदृश हय जोते, देखि पुरन्दर लज्जित होते॥४॥

मित्र मरीचि, भानु, अरुण, भास्कर,सविता सूर्य अर्क खग कलिकर॥
पूषा रवि आदित्य नाम लै,हिरण्यगर्भाय नमः कहिकै॥५॥

द्वादस नाम प्रेम सों गावैं,मस्तक बारह बार नवावैं॥
चार पदारथ जन सो पावै,दुःख दारिद्र अघ पुंज नसावै॥६॥

नमस्कार को चमत्कार यह,विधि हरिहर को कृपासार यह॥
सेवै भानु तुमहिं मन लाई,अष्टसिद्धि नवनिधि तेहिं पाई॥७॥

बारह नाम उच्चारन करते,सहस जनम के पातक टरते॥
उपाख्यान जो करते तवजन,रिपु सों जमलहते सोतेहि छन॥८॥

धन सुत जुत परिवार बढ़तु है,प्रबल मोह को फंद कटतु है॥
अर्क शीश को रक्षा करते,रवि ललाट पर नित्य बिहरते॥९॥

सूर्य नेत्र पर नित्य विराजत,कर्ण देस पर दिनकर छाजत॥
भानु नासिका वासकरहुनित,भास्कर करत सदा मुखको हित॥१०॥

ओंठ रहैं पर्जन्य हमारे,रसना बीच तीक्ष्ण बस प्यारे॥
कंठ सुवर्ण रेत की शोभा,तिग्म तेजसः कांधे लोभा॥११॥

पूषां बाहू मित्र पीठहिं पर,त्वष्टा वरुण रहत सुउष्णकर॥
युगल हाथ पर रक्षा कारन,भानुमान उरसर्म सुउदरचन॥१२॥

बसत नाभि आदित्य मनोहर,कटिमंह, रहत मन मुदभर॥
जंघा गोपति सविता बासा,गुप्त दिवाकर करत हुलासा॥१३॥

विवस्वान पद की रखवारी,बाहर बसते नित तम हारी॥
सहस्त्रांशु सर्वांग सम्हारै,रक्षा कवच विचित्र विचारे॥१४॥

अस जोजन अपने मन माहीं,भय जगबीच करहुं तेहि नाहीं ॥
दद्रु कुष्ठ तेहिं कबहु न व्यापै,जोजन याको मन मंह जापै॥१५॥

अंधकार जग का जो हरता,नव प्रकाश से आनन्द भरता॥

ग्रह गन ग्रसि न मिटावत जाही,कोटि बार मैं प्रनवौं ताही॥
मंद सदृश सुत जग में जाके,धर्मराज सम अद्‌भुत बांके॥१६॥

धन्य-धन्य तुम दिनमनि देवा,किया करत सुरमुनि नर सेवा॥
भक्ति भावयुत पूर्ण नियम सों,दूर हटतसो भवके भ्रम सों॥१७॥

परम धन्य सों नर तनधारी,हैं प्रसन्न जेहि पर तम हारी॥
अरुण माघ महं सूर्य फाल्गुन,मधु वेदांग नाम रवि उदयन॥१८॥

भानु उदय बैसाख गिनावै,ज्येष्ठ इन्द्र आषाढ़ रवि गावै॥
यम भादों आश्विन हिमरेता,कातिक होत दिवाकर नेता॥१९॥

अगहन भिन्न विष्णु हैं पूसहिं,पुरुष नाम रविहैं मलमासहिं॥२०॥

॥दोहा॥

भानु चालीसा प्रेम युत, गावहिं जे नर नित्य,
सुख सम्पत्ति लहि बिबिध, होंहिं सदा कृतकृत्य॥

॥श्री सूर्य भगवान् की आरती॥

ॐ जय सूर्य भगवान, जय हो दिनकर भगवान।
जगत् के नेत्रस्वरूपा, तुम हो त्रिगुण स्वरूपा।
धरत सब ही तव ध्यान, ॐ जय सूर्य भगवान ॥
॥ॐ जय सूर्य भगवान, जय हो दिनकर भगवान॥

सारथी अरुण हैं प्रभु तुम, श्वेत कमलधारी। तुम चार भुजाधारी॥
अश्व हैं सात तुम्हारे, कोटि किरण पसारे। तुम हो देव महान॥
॥ॐ जय सूर्य भगवान, जय हो दिनकर भगवान॥

ऊषाकाल में जब तुम, उदयाचल आते। सब तब दर्शन पाते॥
फैलाते उजियारा, जागता तब जग सारा। करे सब तब गुणगान॥
॥ॐ जय सूर्य भगवान, जय हो दिनकर भगवान॥

संध्या में भुवनेश्वर अस्ताचल जाते। गोधन तब घर आते॥
गोधूलि बेला में, हर घर हर आंगन में। हो तव महिमा गान॥
॥ॐ जय सूर्य भगवान, जय हो दिनकर भगवान॥

देव-दनुज नर-नारी, ऋषि-मुनिवर भजते। आदित्य हृदय जपते॥
स्तोत्र ये मंगलकारी, इसकी है रचना न्यारी। दे नव जीवनदान॥
॥ॐ जय सूर्य भगवान, जय हो दिनकर भगवान ॥

तुम हो त्रिकाल रचयिता, तुम जग के आधार। महिमा तब अपरम्पार॥

प्राणों का सिंचन करके भक्तों को अपने देते। बल, बुद्धि और ज्ञान॥
॥ॐ जय सूर्य भगवान, जय हो दिनकर भगवान॥

भूचर जलचर खेचर, सबके हों प्राण तुम्हीं। सब जीवों के प्राण तुम्हीं॥
वेद-पुराण बखाने, धर्म सभी तुम्हें माने। तुम ही सर्वशक्तिमान॥
॥ॐ जय सूर्य भगवान, , जय हो दिनकर भगवान॥

पूजन करतीं दिशाएं, पूजे दश दिक्पाल। तुम भुवनों के प्रतिपाल॥
ऋतुएं तुम्हारी दासी, तुम शाश्वत अविनाशी। शुभकारी अंशुमान॥
॥ॐ जय सूर्य भगवान, , जय हो दिनकर भगवान ॥

ॐ जय सूर्य भगवान, जय हो दिनकर भगवान।
जगत् के नेत्रस्वरूपा, तुम हो त्रिगुण स्वरूपा।स्वरूपा॥
धरत सब ही तव ध्यान, ॐ जय सूर्य भगवान॥

॥ इति सूर्य भगवान् आरती समाप्त ॥